कृष्णदास संस्कृत सीरीज ३४

(पण्डितराजजगन्नाथ-ग्रन्थावली-१)

पण्डितराजजगन्नाथविरचितं

मनोरमा-कुचमर्दनम्

विमर्शमयी

'बालक्रीडा' हिन्दीव्याख्योपेतम्

सम्पादकः एवं व्याख्याकारः
आचार्य मधुसूदन शास्त्री

चौखम्बा कृष्णदास अकादमी, वाराणसी

कृष्णदास संस्कृत सीरीज

३४

***

(पण्डितराजजगन्नाथ-ग्रन्थावली-१)

पण्डितराजजगन्नाथविरचितं

मनोरमा-कुचमर्दनम्

विमर्शमयी

'बालक्रीडा' हिन्दीव्याख्योपेतम्

सम्पादक एवं व्याख्याकारः

पञ्चदशसहस्रादिरूप्यकविशिष्टपुरस्कारैः यू. पी. सरकारेण सम्मानितः

आचार्य मधुसूदन शास्त्री एम. ए.

एक्स डीन-फैकल्टी आफ दी ओरियन्टल लर्निङ्ग, B. H. U. वाराणसी

चौखम्बा कृष्णदास अकादमी

वाराणसी

प्रकाशक : चौखम्बा कृष्णदास अकादमी, वाराणसी
मुद्रक : चौखम्बा प्रेस, वाराणसी
संस्करण : द्वितीय, वि०सं० २०७०, सन् २०१३

चौखम्बा कृष्णदास अकादमी
के० ३७/११८, गोपाल मन्दिर लेन
गोलघर (मैदागिन) के पास
पो० बा० नं० ११२८, वाराणसी–२२१००१ (भारत)

चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस
के० ३७/९९, गोपाल मन्दिर लेन
गोलघर (मैदागिन) के पास
पो० बा० नं० १००८, वाराणसी—२२१००१ (भारत)

KRISHNADAS SANSKRIT SERIES
34
****

MANORAMĀ-KUCAMARDANAM

OF

PANDITARAJ JAGANNATH

Edited with the
Balakrida Hindi Commentary

By
Winner of Fifteen Thousand Rupees of Vishist Puraskar by
U. P. Govt. and Etc.
ACHARYA MADHUSUDAN SHASTRI
M.A.
Ex-Dean, Faculty of the Oriental Learning, B. H. U. Varanasi

CHOWKHAMBA KRISHNADAS ACADEMY
VARANASI

Publisher : Chowkhamba Krishnadas Academy, Varanasi
Printer : Chowkhamba Press, Varanasi

CHOWKHAMBA KRISHNADAS ACADEMY
Oriental Publishers & Distributors
K. 37/118, Gopal Mandir Lane
Post Box No. 1118, Varanasi- 221001
(INDIA)

Also can be had from :
CHOWKHAMBA SANSKRIT SERIES OFFICE
Publishers and Oriental and Foreign Book-sellers
K . 37/99, Gopal Mandir Lane
At the North Gate of Gopal Mandir
Near Golghar (Maidagin)
Post Box No. 1008, Varanasi- 221001 (India)

प्रास्ताविक समर्चा

यह पण्डितराज जगन्नाथ ग्रन्थावली है। पण्डितराय के विषय में जिज्ञासुजन हमारे "पण्डितराज जगन्नाथ-चिन्तन की एक तुला", इस ग्रन्थ से समझे जो कि प्रकाश्यमान है। उर्दू के राय को संस्कृत में राज कहा है।

इस ग्रन्थावली मे १४ ग्रन्थों का समावेश है जिनका निर्देश क्रमशः हम करते हैं। एक बात यह भी बता देना जरुरी है कि पण्डितराज ने रसगङ्गाधर में तृतीय मध्यम काव्य के उदाहरण के निरूपण के समय "यथा यमुनावर्णने" इस तरह यमुना वर्णन का नामोल्लेख किया है। शायद उसी को लेकर यमुनावर्णनात्मक गद्य निबन्ध स्वरूप से पण्डितों ने सम्भावित कर लिया है। हमारी दृष्टि में ऐसा कोई ग्रन्थ मालूम नही पड़ता है। अगर रहा हो तो इस समय अप्राप्य है।

(१) मनोरमाकुचमर्द्दन :—यह भट्टोजिदीक्षित की सिद्धान्त कौमुदी की व्यांख्या प्रौढमनोरमा के कुचस्वरूप पञ्चसन्धिप्रकरण का मर्दनात्मक खण्डन ग्रन्थ है।

(२) चित्रमीमांसा खण्डनः—यह अप्पय्यदीक्षित की चित्र मीमांसा का खण्डनात्मक ग्रन्थ है।

(३) प्राणाभरण एवं जगदाभरण नामक अलग २ दो लघु काव्य होते हुए भी एक ही काव्य है। क्यों कि पहले में कामरूप देश के नरेश प्राणाभरण की प्रशंसा है, दूसरे में ख्यातनामा राणा कर्णसिंह के सुपुत्र जगत् सिंह का वर्णन है। पद्य वही है जहां प्राणनारायण का नाम कविता में रखा वहां प्राणाभरण नामक काव्य हो गया। उसी कविता में उक्त नाम के स्थान पर जगत् सिंह का नाम रखा वह जगदाभरण नामक काव्य हो गया। इसमें ५३ पद्य हैं। इसमें टिप्पणी भी है जो पण्डितराज की हो निर्मित है।

(४) रसगङ्गाधर—यह साहित्य शास्त्र का प्रसिद्ध अलंकार ग्रन्थ है। इसमें ७० अलंकार हैं। तिरस्कार अलंकार एक नया है।

(५) गंगालहरी—इसका नाम पीयूषलहरी है। जैसा कि इसके अन्तिम पद्य इमां पोयूषलहरीं जगन्नाथेन निर्मिताम् से प्रतीत है। इसमें ५२ पद्य हैं

(६) अमृतलहरी—यह कलिन्द पर्वत से निकलनें वाली यमुना का स्तव है इसमें कुल ११ श्लोक हैं।

(७) करुणालहरी—यह कृष्ण का स्तव है इसमें ५५ श्लोक हैं

(८) लक्ष्मीलहरी—इसमें लक्ष्मी की आराधनात्मक स्तुति हैं और ४१ पद्य हैं।

(९) सुधालहरी—इसमें सूर्य की स्तुति है और ३० श्लोक हैं।

(१०) प्रास्ताविकविलास—इसमें विभिन्न प्रस्तावों के समुचित १२२ पद्य हैं।

(११) शृङ्गारविलास—इसमें यथा नाम तथा गुणाः के अनुसार माधुरीभरी रसझरी १८० रचनायें हैं इसीकी प्रसिद्धि भामिनीविलास के नाम से है।

(१२) करुणाबिलास— यह पण्डितराज का अपनी धर्म पत्नी के विरह में विलाप है। इसमें १९ पद्य हैं।

(१३) शान्तविलास—यह निर्वेदमयी ४४ पद्यों की कृति है।

(१४) आसफविलास—इसमें शाहजहां की काश्मीर की यात्रा के समय नबाब आसफखान के द्वारा किया गया स्वागत सम्बन्धी आख्यान गद्य में है आरम्भ में ४ पद्य हैं। इन सभी पर हमारी हिन्दी टीका है।

प्रकृत ग्रन्थ मनोरमाकुचमर्दन है। इसमें पण्डितराज ने अपने गुरुकी गौरव-रक्षा की है। भट्टोनीदीक्षित को लतेडते हुए सिद्धान्तपक्ष का स्थापन किया है। इसको सुबोध एवं भावमयी भाषा हिन्दी में व्यक्त कर दिया है।

चौखम्बा संस्कृत सीटीज आफिस के सञ्चालक बन्धुद्वय श्री विठ्ठलददास गुप्त एवं ब्रजमोहनदास गुप्त के इस सराहनीय विचार पण्डितराजग्रन्थावली के प्रकाशन का भूमण्डल का अखण्ड पण्डित वृन्द हर्ष वर्ष प्रकर्ष से समर्थन करता है और भगवान् साम्ब प्रदाशिव से प्रार्थना करता है कि वे इसी तरह संस्कृता विश्वभाषा की सेवा में निरत रहते हुए चिरंजीवी होवे। हरिः ओम् तत् सत्।

पण्डितों का अनुग्रहभाजन

१५ हजार रुपये से यू० पी० सरकार द्वारा
विशिष्ट पुरस्कृत आचार्य मधुसूदनशास्त्री एम्० ए०।
प्राचीन डीन, फैकल्टी आफ द ओरियण्टल लर्निङ्ग B. H. U. वाराणसी

॥ श्रीः ॥

अथ मनोरमाकुचमर्दनकी

विषय-सूची

अथ संज्ञा प्रकरणम्

अथ परिभाषा प्रकरणम्

अथ अच् सन्धिप्रकरणम्

— प्राद्वहोढो ।

७— उपसर्गादृतिधातौ ।

—निपात एकाजनाङ् ।

६—ईदूतौ च सप्तम्यर्थे ।

१०—सम्बुद्धौ शाकल्यस्य ।

इत्यचां सन्धिद्वयम् ।

अथ हल् सन्धिप्रकरणम्

१—स्तोः श्चुना श्चुः

२— ष्टुना ष्टुः ।

३—शि तुक् ।

४—ङमो ह्रस्वादचि ।

५—यदप्युच्यते सुगण्णीशः ।

इति हल्सन्धिप्रकरणम् ।

अथ विसर्ग सन्धिप्रकरणम्

१—शर्परे ।

२—तत्र विचार्यते कुप्वोः । इति ।

३—इत्थं कुप्वोः योगो विभज्यते ।

४—वा शरि ।

५— अथ वासः क्षौममद्भिः प्सातम् ।

इति विसर्गसन्धिः ।

।। श्रीमन्महागणाधिपतये नमः ।।

विमर्शाख्य 'बालक्रीडा' हिन्दीव्याख्यालङ्कृता

पण्डितराज-जगन्नाथ-ग्रन्थावली

तत्र

१

मनोरमाकुचमर्दनम्

अथ संज्ञाप्रकरणम्

लक्ष्मीकान्तपदाम्भोजं प्रणम्य श्रेयसां पदम् ।

पण्डितेन्द्रो जगन्नाथः स्यति गर्वं गुरुद्रुहाम् ।।

इह केचिन्निखिलविद्वन्मुकुटमणिमयूखमालालालितचरणकमलानां गीर्वाण-गुरुगौरवग्रासमांसलमहिममण्डिताखण्डमहीनमण्डलानां शेषवंशावतंसानां श्रीकृष्णाख्य पण्डितानां चिरायार्चितयोः पादुकयोः प्रसादासादितशब्दानुशासनास्तेषु

बालक्रीडा

श्रीमान्न्महागणपतिजी के लिए नमस्कार है ।

पण्डितराजजगन्नाथकृतमनोरमाकुचमर्द्दन । उसका संज्ञाप्रकरण ।

श्रेय के पद कल्याण के स्थान लक्ष्मीकान्त के चरणकमल को प्रणाम कर के पण्डितेन्द्र जगन्नाथ गुरुद्रोही भट्टोजी दीक्षित के गर्व का अन्त करता है नाश करता है ।

अथ भारत के सभी विद्वानों के मुकुटस्थितमणि की किरणमालाओं से जिनके चरणकमल लालित हैं समुद्भासित हैं । देवगुरु बृहस्पति के गौरव का ग्रास करने वाली मांसल महिमा से अखण्डमहीमण्डल को जिन्होंने मण्डित कर दिया है ऐसे शेष वंश के भूषण श्रीकृष्ण पण्डितजी के अर्चित चरणों के प्रसाद से शब्दानुशासन को प्राप्त करनेवाले कोई लोग उनके

च पारमेश्वरं पदं प्रयातेषु कलिकालवशंवदीभवन्तस्तत्र भवद्भिरुल्लासितं प्रक्रियाप्रकाशमाशयानवबोधनिबन्धनैर्दूषणैः स्वयं निर्मितायां मनोरमाया माकुल्यकार्षुः। सा च प्रक्रियाप्रकाशकृतां पौत्रैरखिलशास्त्रमहार्णवमन्थाचलायमानमानसानामस्मद्गुरु वीरेश्वरपण्डितानां तनयैर्दूषिता अपि स्वमतिपरीक्षार्थं पुनरस्माभिरपि निरीक्ष्यते।

तत्र तावत् "सार्वधातुकमपित्" इति सूत्रगतेन "परत्र परशब्दप्रयोगात्" कल्प्यमानो वतिः सप्तम्यन्तान्न कल्प्यो ङितीव ङिद्वदिति तथा सति अनुयोगिनि सप्तमीप्रसङ्गात् सार्वधातुकेऽपिदित्यादिना संख्यावद्भिरुपहेलनीयमर्थं निरूपयताम्—तथा अणुदित् सूत्रगतकौस्तुभे उच्चारितानां शब्दानामर्थोपस्थापकत्वं न प्रकारान्तरेण ज्ञातानामित्यर्थस्य निर्णयेन विलक्षणं स्वव्युत्पत्तिपाटव मुद्गिरताम्, भवतेर इति सूत्रगतमनोरमायां सार्वधातुकीयकर्त्रर्थज्ञानानपेक्षस्य "रुदादिभ्य" इत्यादेः प्रवर्त्तनेन कृतार्थस्य शितपः शित्वसामर्थ्यमालम्ब्य शपः

बालक्रीडा

परमेश्वर पद को प्राप्त कर लेनेपर कलिकाल के वंशवद हुए उनके द्वारा उल्लासित प्रक्रियाप्रकाश के आशय को नहीं समझने से किये गये दूषणों से अपनी बनाई हुई मनोरमा में आकुल कर दिया। यद्यपि वह मनोरमा प्रक्रियाप्रकाशकार के पौत्र और हमारे गुरु वीरेश्वरजी—जिनका मानस अखिल शास्त्रमहार्णव को मन्थन करनेवाला पर्वत है—के पुत्र द्वारा दूषित कर दी गई है तद्यपि अपनी बुद्धि की परीक्षा करने के लिए फिर हम उसका निरीक्षण करते हैं।

पर में पर शब्द के प्रयोग से कल्पित किये जानेवाले वति की सप्तम्यन्त से कल्पना नहीं करनी चाहिए जैसे ङित् के रहते ङिद्वत नहीं करते हैं। यदि ऐसा करेंगे तो अनुयोगी में सप्तमी का प्रसङ्ग हो जायगा जिसके कारण सार्वधातुकमपित् इस सूत्र में सार्वधातुके अपित् ऐसा सप्तम्यन्तघटित पाठ करना पड़ेगा। इत्यादि सार्वधातुकमपित् सूत्र में विद्वानों के उपहेलनीय अर्थ को निरूपण करनेवालों के तथा 'अणुदित्" सूत्र के कौसुम में उच्चार्यमाण शब्द ही अर्थ के उपस्थाक होते हैं न कि प्रकारान्तर से ज्ञात शब्द भी अर्थ के उपस्थापक होते हैं ऐसे अर्थ के निर्णय के द्वारा विलक्षण अपने बुद्धिपाटव का उद्गिरण करनेवालों के, और भवतेरः इस सूत्र की मनोरमा में सार्वधातुकीयकअर्थज्ञान की अपेक्षा नहीं करनेवाले रुदादिभ्यः इत्यादि के प्रवर्त्तन से कृतार्थ शितप् के शित्वसामर्थ्य

प्रवृत्ति समर्थयमानानां गुरुद्वेषदूषितमतीनां यद्यपि पुरुषायुषेणापि न शक्यन्ते गणयितुं प्रमादास्तथापि दिङ् मात्रेण कानपि कुशाग्रधिषणेषु निरूपयामः ।

हलन्त्यमिति । अत्रेदमवधेयम्—सूत्रावृत्तिरियमतितमामयुक्तेव पाणिनिसूत्रन्यासविरुद्धत्वाद् गौरवाच्च; कथं तर्हि अनुपपत्तिपरिहार इति चेत्, इत्थम्—"हल्" इत्येकं सूत्रं "अन्त्यम्" इति चापरम् । तत्र मकारात् परतो ल् इति व्यञ्जनं संयोगान्तलोपेन लुप्यते । उपदेशे इति इदिति चानुवर्तते, तेन उपदेशेऽन्त्यं ल् इत्स्यादिति वाक्यार्थेन णलादिलकारसाधारण्येन हल् सूत्रान्त्यलकारस्येत्संज्ञायां सत्यां हल् प्रत्याहारसिद्धौ हलिति प्रथमवाक्यार्थधीः, अत्रार्थे अन्त्यमिति देहलीदीपकन्यायेनान्वेति उपदेशे इति चानुवर्त्तते तेन न काचिदनुपपत्तिः ।

यद्वा हलन्त्यमित्येकं सूत्रम्, ल इति चापरम् । तत्र व्यञ्जनात्मकस्य द्वितीयसूत्रस्य लुप्तस्याप्यनुसन्धानेन विषयीकृतास्यानुवृत्तोस्त्रिभिः सह (उप-

बालक्रीडा

का आलम्बन करके शपूकी प्रवृति का समर्थन करनेवालों के तथा गुरु के द्वेष से जिनकी मति दूषित हो गई है उनके प्रमादों को गणना यद्यपि पुरुष की आयु से भी जीवनी शक्ति से भो नहीं की जा सकतो है तद्यपि दिङ्मात्र कुछ प्रमादों की कुशाग्रबुद्धिमानों के समक्ष निरूपण करते हैं ।

"हलन्त्यम्" इति । यहां यह समझना चाहिए । हलन्त्यम् हलन्त्यम् यह जो दो वार सूत्र की आवृत्ति की है वह अत्यन्त अयुक्त है । पाणिनि के रचित सूत्रों के न्यासके विरुद्ध है और ऐसा करने से गौरव भी है । यदि विरुद्ध और गौरव मानेंगे तो अनुपपत्ति का परिहार कैसे होगा । यदि ऐसी स्थिति है तो सुनिये । इत्थम् इस प्रकार से परिहार होगा । हल् यह एक सूत्र है और अन्त्यम् यह दूसरा सूत्र है । उस द्वितीय सूत्र में लकार से परे जो है उसका संयोगान्तलोप से लोप हो जायगा । उपदेशे इस सूत्र से इत् का अनुवर्त्तन भी करलेते हैं । उससे उपदेश अवस्था में जो अन्त्य ल् है वह इत् होगा ऐसे वाक्यार्थ से णलादि के लकार के साधारणीकरण से हल् सूत्र के अन्त्य लकार की इत्संज्ञा होने पर हल् प्रत्याहार की सिद्धि हो गई । जिसके फलस्वरूप हल् ऐसी प्रथमवाक्यार्थ की बुद्धि हुई । इस वाक्यार्थ में देहलीदीपक न्याय से अन्त्यम् यह अन्वित हो जाता है और उपदेश इसकी अनुवृत्ति होती ही है अतः कोई भी अनुपपत्ति नहीं है ।

अथवा हलन्त्यम् यह एक सूत्र है और ल् यह दूसरा है । वहां लुप्त हुए का भी अनुसन्धान से समझे गये व्यञ्जनात्मक द्वितीय सूत्र की अनुवृत्ति

देश १ अन्त्यं २ इत् ३ इति पदैः) योजने कृते प्रागुक्तवाक्यार्थधियः साम्राज्यम् नहि श्रुतमेव वाक्यमर्थबुद्धिमुत्पादयतीत्यास्ते नियमो भावनोपनीतादपि तस्माद् व्युत्पमानामर्थबुद्धेः सर्वसम्मतत्त्वात् । अमुं चार्थम् अणुदित् सूत्रगतकौस्तुभखण्डनावसरे व्यक्तमुपपादयिष्यामः ।

यद्वा हल् इति चतुर्दशे सूत्रे लकारोऽनुनासिकः क्रियते, तस्यानुनासिकत्वसामर्थ्यादनचोऽपि उपदेशेऽजनुनासिक इतीत्संज्ञा भविष्यति । अस्मिन्नेव सूत्रे हकारात्परतो लकारस्य संयोगान्तलोपाद्वा यँलोकमित्यत्रोपदेशाभावाद सिद्धत्वाद्वा नेत्संज्ञा ।

अथात्र संयोगान्तलोपो दुर्लभः; संयोगान्तस्य पदस्याभावादिति चेन्न—संयोगान्तस्य सतः पदान्तस्य लोप इति पक्षस्यापि तत्र स्थितत्वात् । अन्यथा समुदायस्य संयोगसंज्ञा नावयवानामिति मुख्यपक्षे संयोगेन पदस्य विशेषणेना-

बालक्रीडा

हो जायगी जिसकी उपदेशे, अन्त्यम् इत्, इन तीन पदों में योजना करने पर प्रागुक्तवाक्यार्थ की बुद्धि का साम्राज्य हो जायगा । ऐसा कोई नियम नहीं है कि सुना हुआ हो वाक्य अर्थ की बुद्धि को उत्पन्न करता है क्योंकि भावना से उपनीत वाक्य से भी व्युत्पन्नों को अर्थ की बुद्धि हो जाती है यह सर्व सम्मत सिद्धान्त है । इस अर्थ का अणुदित् सूत्र के कौस्तुभ के खण्डन करने के अवसर में स्पष्ट रूप से उपपादन करेंगे ।

अथवा "हल्" इस सूत्र में लकार को अनुनासिक करते हैं । इस अनुनासिक संज्ञा करने के सामर्थ्य से अच्भिन्न भी उस लकार की उपदेशेऽजनुनासिक इससे इत्संज्ञा हो जायगी । इसी सूत्र में हकार से परे लकार का संयोगान्त लोप हो जाने में अथवा यँलोकम् इसमें उपदेश के अभाव से या असिद्ध हो जाने से इत् संज्ञा नहीं होगी ।

और भी बात है । यहाँ संयोजान्त लोप का लाभ होना कठिन है । क्यों कि पद नहीं है । ऐसा नही कह सकते संयोगान्त के सद्भाव से पदान्त का लोप होता है ऐसा पक्ष भी वहाँ माना गया है । यदि ऐसा नहीं मानेगें तो समुदाय की संयोग संज्ञा होती है अवयवों की नहीं होती है इस मुख्य पक्ष में पद के विशेषण बने हुए संयोग से अन्त के मिली जाने पर अन्त ग्रहण व्यर्थ हो जायगा । अस्ति सिचोऽपृक्ते इसमें विभक्ति सकार के बाद प्रश्लिष्टल

न्तलाभेऽन्तग्रहणस्य वैयर्थ्यापत्तेः । अस्तिसिचोऽपृक्ते इत्यत्र विभक्तिसकारोत्तरं प्रश्लिष्टस्य सकारस्य लोपायावश्याश्रयणीयत्वात् ।

कर्मवत् सूत्रगतमनोरमायां स्थानिवत् सूत्रगतकौस्तुभे च पक्षस्यास्यापि स्वयमेवाश्रितत्वाच्च । सरूप इति सूत्रे वृक्ष स् स् स् इत्यत्र संयोगान्तलोपस्यैव भाष्यकृतोक्तेश्च, तत्रत्यकैयटकृता हल्ङ्यादिलोपव्याख्या तु न स्वरससिद्धा स्वोक्तेन प्रकृत्याक्षेपेण विरुद्धा च । कर्मवत् सूत्रगतमनोरमाकौस्तुभयोर्लकारस्य स्वयं संयोगान्तलोपोक्तेश्च । एतेन "लकारस्य संयोगान्तलोपो दुर्लभः । इति मनोरमाऽसम्बद्धैव ॥ ६ ॥

न च यणः प्रतिषेधारम्भे झलो लोपविधाने च लस्य संयोगान्तलोपो दुर्लभ इति वाच्यम्, बहिरङ्गलक्षणत्वाद्वा" इति पक्षावलम्बनेन तस्य सुलभत्वात् । न च पक्षत्रयानुगृहीतस्यैव साधुत्वं नान्यस्येति वाच्यम्? त्रयाणामपि पक्षाणां प्रत्येकमितरनिरपेक्षतयैवाकारसिद्धत्वात् । गिरिवेशमयतौ पक्षभेदेन रूपभेदस्य स्वयमेव वक्ष्यमाणत्वाच्च । एवं स्थिते सहविवक्षाविरहाद् द्वन्द्वानु-

बालक्रीडा

सकार का लोप के लिए आश्रयण करना पड़ेगा । कर्मवत् सूत्र की मनोरमा में और स्थानिवत् सूत्र के कौस्तुभ में इस पक्ष का आश्रियण तुमने स्वयं किया है । सरूप सूत्र में वृक्ष स् स् स् इसमें भाष्यकार ने संयोगान्त लोप को ही हका है । वहां कैयट से की गई हलङ्यादिलोपकी व्याख्या तो स्वरस सिद्ध नहीं है और अपने कहे हुए प्रकृति के आक्षेप से विरुद्ध है क्यों कि कर्मवत्सूत्र की मनोरमा में और कौस्तुभ में स्वयं तुमने लकार का संयोगान्त लाप कहा है ।

इससे लकार का संयोगान्यलोप दुर्लभ है यह मनोरमा असम्बद्ध ही है ॥६॥

यह नहीं कहना चाहिए कि यण् के लोप के प्रतिषेध और झल् के लोप के विधान में लकार का संयोगान्तलोप होना दुर्लभ हो जायगा । क्योंकि बहिरङ्गलक्षण होनेसे भी कार्य होता है इस तृतीय पक्ष के अवलम्बन करने से भी ल का संयोगान्त लोप सुलभ ही है । यह भी नहीं कह सकते कि इन पक्षों से जो अनुगृहीत होगा वही साधु होगा अन्य साधु नहीं होगा । क्योंकि ये तीनों पक्ष एक दूसरे के आश्रयण किये विना अपेक्षा किये विना ही आकर में सिद्ध हैं । इसके सिवाय गिरिवेशमयति के विषय में पक्षके

पपत्तिः सिद्धासिद्धयोर्युगपदनुवादानुपपत्या बोधकत्वे क्लेशश्चेत्यादिदोषाभासानां परिहारार्थमायासोऽपि नापतति इति सुधियो विभावयन्तु ।७।

यत्तु "व्यस्तप्रयोगोऽपि तत्रानिष्ट" इत्युक्तं तन्न—"अस्ते भूः" इत्यत्र भवति सन्देहः। अस्तेः स्थाने समीपे अनन्तरे वेति । "षष्ठी स्थाने" इति सूत्रगतेन अनन्तरयोगे एषा षष्ठी इति । उरण् रपर इति । सूत्रगतेन च भाष्यग्रन्थेन सह विरोधापत्तेः तथा तत्सूत्रगतेन उः समीपे योऽण् तस्यापि रपरत्वप्रसङ्ग इत्यनेन सामीप्यलक्षणोऽपि सम्बन्धोऽवगम्येतेत्यर्थः" इत्यनेन च कैयटग्रन्थेन विरोधापत्तेश्च ।८।

आद्योच्चारणमुपदेश इति । यत्तु "यद्यपि उपदिश्यतेऽनेनेति करणव्युत्पत्या शास्त्रमुपदेश इति भाष्यवृत्यादिषु स्थितं तथापि तत् प्रौढ़िवादमात्रं करणे घञो दुर्लभत्वाल्ल्युटा बाधात् इति ।

बालक्रीडा

भेद से रूप भेद को स्वयं तुम कहोगे। ऐसी स्थिति में सहविवक्षा के अभाव में द्वन्द्व की अनुपपत्ति होगी और सिद्ध एवं असिद्ध की युगपत् अनुवाद की अनुपपत्ति से बोध करने में भी क्लेश होगा इत्यादि दोषाभासों के परिहारार्थ आयास भी नहीं होगा ऐसा बुद्धिमान् समझें ।।७।।

जो तो व्यस्त प्रयोग भी वहाँ अनिष्ट है ऐसा कहा वह ठीक नहीं है। क्योंकि "अस्तेभूं" यहां सन्देह होता है कि अस्ति के समीप में या अस्ति के अनन्तर यह आदेश होता है। उसका "षष्ठी स्थाने" इस सूत्र के अनन्तरयोग में यह षष्ठी है इससे और "उरण् रपर्" इस सूत्र के भाष्य के साथ विरोध की आपत्ति होती है। तथा उसी सूत्र के उ के समीप में जो अण् है उसमें भी रपरत्व का प्रसङ्ग लगजायगा इससे सामीप्य लक्षण भी सम्बन्ध मालूम हो सकता है इस कैयट ग्रन्थ के साथ विरोध की आपत्ति लग जायगी ।८।

आद्योच्चारण उपदेश। आद्य प्रथम उच्चारण कथन उपदेश है। यहाँ जिससे उपदेश देते हैं इस करण व्युत्पत्ति से शास्त्र उपदेश है ऐसा भाष्य एवं वृत्ति वगैरह में स्थित है यद्यपि वह प्रौढिवाद मात्र है क्योंकि करण में घञ् मिलना कठिन है और ल्युट् से घञ् का बाध भी हो जाता है। ऐसा जो कहा है वह असत् है।

तदसत्—"अप्तृन्" इति सूत्रेणाऽसिद्धस्यापि उद्गातार इत्यत्र दीर्घस्यैवोपदेश इत्यत्र करणे घञो भाष्यकारवचनादपि सुसाधत्वात्। अहो महानयमनयो यत् कल्पितगुणतात्पर्यमादाय दीर्घनिर्देशस्य साधुत्वमभ्युपेयते स्फुटोपलभ्यमाने मुख्यतात्पर्ये सत्यपि करणघञुक्तेः प्रौढिवादत्वम् सूत्रविरुद्धस्यापि त्वकत्पितृकादेर्भाष्यकारवचनानुगृहीतस्य "यथोत्तरम्" इत्यादिना भवतः सुशब्दताया अभ्युपगमाच्च। ८

अपि चैवं सति प्रियाष्टन् शब्दस्य शसादौ ष्टुत्वेन णत्वं भवता दूषितमसङ्गतं स्यात्—एतद्रूपे ष्टुत्वसिद्ध्यर्थमेव मूर्धन्यानुवृत्तिमुपेक्ष्य प्रतिपदोक्तं णत्वं सूत्रकृता कृतमिति तदाशयं वर्णयता ष्टुत्ववादिनापि मूर्द्धन्यानुवृत्तिपराया भाष्यगिरः प्रौढिवादताया वक्तुं सुशक्यत्वात्। प्रत्युत युक्तमस्यैव प्रौढिवादत्वकथनं ष्टुत्वानुगुणसूत्रन्यासविरुद्धत्वात्। ननु करणे घञ्वचने तस्य सूत्रानुसारित्वात्। तत्तु बाहुलकतात्पर्यज्ञैर्भाष्यकारैरेव स्फुटीकृतम्। एवं स्थिते एव यथोत्तरं

बालक्रीडा

"अप् नृन्" सूत्र से असिद्ध भी उद्गातार इसमें किये गये दीर्घ का उपदेश है इस में करण में घञ् का होना भाष्यकार के वचन से सुतरां सिद्ध है। अतः यह बड़ा भारी अन्याय है जो कल्पना प्रसूत अत एव गुण माने अमुख्य तात्पर्य को लेकर दीर्घ निर्देश का साधुत्व मानते हैं। और स्फुट उपलभ्यमान मुख्य तात्पर्य के रहते हुए भी करण में घञ् की उक्ति को प्रौढिवादत्व मानते हैं तथा सूत्र से विरुद्ध है तब भी भाष्यकार के वचन से अनुगृहीत होनेसे यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम् इसके अनुरोध के जरिये त्वकत्पितृकादि की सुशब्दता का आपने अभ्युपगम किया।

अपि च और भी है। ऐसा होने पर प्रियाष्टन् शब्द को जो आपने दूषित ठहराया हैं वह असंगत हो जायगा। प्रियाष्टन शब्द के शसादि के रूप में ष्टुत्व की सिद्धि के लिए मूर्धन्य की अनुवृत्ति का उपदेश कर के सूत्रकार ने प्रतिपदोक्त णत्व को किया है ऐसे आशय का वर्णन करने वाला ष्टुत्ववादी भी मूर्द्धन्य की अनुवृत्ति करनेवाली भाष्यकार की वाणी को प्रौढिवाद कहने के लिए शक्ति रखता है इतना ही नहीं वल्कि इसी को ष्टुत्व के अनुगुण सूत्र के न्यास के विरुद्ध होने से प्रौढिवाद कहना युक्त है न कि करण में घञ् कथन को प्रौढिवाद कहना युक्त है। क्योंकि वह सूत्र का अनुसरणकारी हैं। उसको बाहुलक के तात्पर्य के

मुनित्रयस्य प्रामाण्यं निरीक्ष्यते, तदा भाष्यकारवचनत्वाविशेषान्मूर्द्धन्यानुवृत्तिगिर इव करणे घञ् गिरोऽपि प्रामाण्यमुचितम् । ९

वस्तुतस्तु प्रियाष्टनि णत्वमशुद्धमिति गीरेवाशुद्धा । तथाहि यथोद्देशपक्षे "रषाभ्याम्" इति सूत्रगते "तस्य दोषः" इति वार्तिकस्थे च णवचने सति । असति वा तदुभयगते तस्मिन् प्रियाष्टनि णत्वं सिद्धयति । स्थिते तु सूत्रगते णवचने वार्तिकस्थणवचनप्रत्याख्यानपक्षः अनुपस्थानपराहत एव सूत्रस्थणवचस्य वार्तिकस्थणवचनालम्बनेनैव प्रियाष्टनि णत्वनिर्णयरूपे प्रयोजन हेतुत्वात् । कार्यकालपक्षे सूत्रस्थणवचनप्रत्याख्याख्यानविशिष्टवार्तिकगतणवचनप्रत्याख्यानपक्षे वा प्रियाष्टनि णत्वमिष्टमिति व्यवस्थायां सत्यां भाष्यकारादीनामस्योपजीव्यस्य महर्षेः सूत्रकृतो मूर्द्धन्यानुवृत्तिप्रतिसन्धानमेव नास्तीति सा च प्रामाणिकैर्वक्तुमसाम्प्रतम् । अतश्च सूत्रकारानुक्तेर्गसामर्थ्यात् प्रियाष्टनि णत्वस्य साधुत्व

बालक्रीडा

जानकार भाष्यकार ने ही स्फुट कर दिया है। ऐसी स्थिति में ही यदि उत्तरोत्तर मुनित्रय के प्रामाण्य को देखते हैं तब मूर्धन्य की अनुवृत्ति करने वाली भाष्यकार की वाणी का जैसा प्रामाण्य है वैसा ही करण में घञ् करनेवाली भाष्यकार की वाणी का प्रामाण्य उचित है क्योंकि दोनों समान हैं अविशेष हैं।

वस्तुतस्तु प्रियाष्टन् मे णत्व अशुद्ध है कहना ही असंगत है अशुद्ध है। कैसे । सुनिये। कर्यकालपक्ष और यथोद्देशपक्ष दो पक्ष होते हैं उनमें यथोद्देश पक्ष में "रषाभ्यां" इस सूत्र में और "तस्य दोप" इस वार्तिक में णवचन रहे या दोनों में नहीं रहे तब भी प्रियाष्टन् में णत्व सिद्ध हो ही जाता है। सूत्र में णवचन के स्थित होने पर तो वार्तिक गत णवचन का प्रत्याख्यानपक्ष अनुत्थान पराहत हो है अर्थात् प्रत्याख्यान पक्ष का उत्थान ही नहीं हो सकता है। क्योंकि वार्तिक गत णवचन का आलम्बन करके ही प्रियाष्टन में णत्व का जो निर्णय किया जाता है इसमें सूत्रगत वचन प्रयोजन में हेतु है। कार्यकालपक्ष मे यानि सूत्रगत णवचन के प्रत्याख्यान से विशिस्ट वार्तिक गत णवचन के प्रत्याख्यान करनेवाले पक्ष में प्रियाष्टन् में णत्व इप्ट है ऐसी व्यवस्था होने पर भाष्यकारादि के उपजीव्य इस सूत्रकार महर्षिका मूर्द्धन्य की अनुवृत्ति के लिए प्रतिसन्धान ही नहीं है ऐसा प्रामाणिकों को कहना

वाच्यम् । भाष्यकारानुरक्तैश्च "यथोत्तरम्" इत्यादिकां वाचमाचक्षाणैस्तस्या-साधुत्वम् , उपेक्षणीयश्चोत्सर्गसिद्धो रूपभेदात् प्रत्याख्यानसम्भवः ।

तदित्थम अन्याय्यं यदस्मादुभयस्मात् पूर्वपक्षविधावित्यत्र पञ्चमीसमासस्य क्वाचित्कतया प्रकृते स्थानिवद्भावशून्यत्वात् "तस्य दोष" इत्यत्र णत्वग्रहण-रूपोपायोत्थापनद्वारा प्रियाष्टनि णत्वे निर्णीत एव पञ्चमी समासानाश्रयणम् तस्य दोष इत्यत्र प्रत्याख्यानाश्रयणं वा समुन्मीलति तस्योपयोगो नान्यथेति मत्वा सूत्रकारैर्णवचनं कृतम् । एवं सति वार्तिकगतणत्वप्रत्याख्यानमपि दुःशकमेव । तस्य सूत्रगतणत्ववचनोत्थापितत्वात् । भाष्यकारस्तु तत्प्रत्याख्यानप्रकारमिति मुनिद्वय-प्रतिभयोरेव वैलक्षण्यं न तु वैलक्ष्यवैलक्षण्यम् । अतो न प्रागुक्तदोषत्रयावकाश इति सूक्ष्ममालोचनीयम् ।

बालक्रीडा

साम्प्रत नहीं है उचित नहीं है । अतः सूत्रकार में अनुरक्त लोगों को वचन का समर्थन करने से प्रियाष्टन् में णत्व का साधुत्व कहना ही चाहिए । यथोत्तरम् मुनीनां प्रामाण्यम् कहनेवाले भाष्यकार में अनुरक्त लोगों को णत्व का असाधुत्व ही कहना चाहिए । अतः उत्सर्गसिद्ध प्रत्याख्यान सम्भव की रूप भेद होजाने के कारण उपेक्षा करनी चाहिए ।

वह उपेक्षा कैसे करनी चाहिए इस पर कहते हैं कि इत्थम् माने इस प्रकार करनी चाहिए । यह अन्याय है न्यायोचित नहीं है कि जो इन दोनों से पूर्वविधौ इसमें पूर्वस्माद् विधिः इस प्रकार पञ्चमी समास मानना । क्योंकि पञ्चमी समास क्वाचित्क है प्रकृत में स्थानिवद्भाव के नहीं होने से "तस्य दोषः" इस वार्तिक में णत्व ग्रहणरूप उपाय के उत्थापन के द्वारा प्रियाष्टन् में णत्व के निर्णय होने पर ही पञ्चमी समासका अना-श्रयण अथवा तस्य दोषः इस में णत्व ग्रहण के प्रत्याख्यान का आश्रयण समुन्मीलित होता है । उसका उपयोग अन्यथा नहीं हो सकता है ऐसा मानकर सूत्रकार ने वचन किया । इस प्रकार वार्तिक में णत्व का प्रत्या-ख्यातक होना मुश्किल है । वह सूत्रगत णत्व वचन से उत्थापित हैं । भाष्यकार ने तो वह प्रत्याख्यान करने का प्रकार है । इस तरह दोनों मुनियों की प्रतिभा को विलक्षण ही कहा न कि वैलक्ष्य का लज्जाका वैलक्षण्य कहा । अतः पहले कहे हुए तीनों दोषों को कोई अवकाश नहीं है । इसको सूक्ष्म दृष्टि से देखना चाहिए ।

यत्तु कार्यकालपक्षाश्रयणेऽन्तरङ्गपरिभाषाप्रवृत्त्या णत्वं नेति निरूपितम् तदप्यसदेव, प्रियाष्टनि णत्वमात्रफलकारणेनेति प्रतिपदोक्तणकारकरणोत्थितादेव प्रकृते यथोद्देशपक्षस्याश्रयणीयत्वात्। स्यात्तदा प्रमातुरेवायमपराधो न प्रमाणप्रमेययोः। तस्मादत्र विपरीतमेव मनोरमोक्तमिति सूक्ष्ममीक्षणीयम्।

"बाहुलकन्तु अगतिकगतिः" इत्यपि असङ्गतमेव। तात्पर्यनिर्णायकदृढ प्रमाणाभावादेव तस्यागतिकगतित्वाम्। इह तु भाष्यकारवचनस्यैव तात्पर्यग्राहकत्वात्। तस्मात् "करणे घञो दुर्लभत्वात्" इति गीरेवासङ्गता।

ऊकालः। यत्तु "ऊशब्देन स्वोच्चारणकालो लक्ष्यते" इत्याहुस्तन्न—ऊशब्दलक्ष्यस्य स्वोच्चारणकालस्य सादृश्यादिरूपभेदसम्बन्धेन उत्तरपदार्थेनान्वयस्यानुपपत्तेः। नामार्थयोर्भेदेनान्वयस्यायोगात् अभेदेनान्वयस्य चासङ्गतेः। न ह्युकारादीना—

बालक्रीडा

जो तो वहाँ कार्यकाल पक्ष का आश्रयण करने पर अन्तरङ्ग-परिभाषा की प्रवृत्ति से णत्व नहीं होगा ऐसा निरूपण किया है वह भी असत् है। क्योंकि प्रियाष्टन् में केवल णत्व रूप फल के कारण ही यह है ऐसा प्रतिपदोक्त णकार करने से ही यह उत्थान है कि प्रकृत में यथोद्देश पक्ष आश्रयणीय है। यदि ऐसा हो सकता है तब प्रमाता का ही अपराध है न कि प्रमाण एवं प्रमेय का अपराध है। अतः यहाँ मनोरमा का कथन विपरीत ही है ऐसा सूक्ष्म देखना चाहिए।

बाहुलक तो अगतिक गति है यानी जब कोई मार्ग नहीं होता है तब ऊबड़ खावड़ मार्ग का आश्रयण किया जाता है। यह कहना भी असङ्गत ही है। क्योंकि तात्पर्य तिर्णायक दृढ़ प्रमाणों के नहीं होने पर ही उसको अगतिक गति कह सकते हैं। यहाँ तो भाष्यकार का वचन ही तात्पर्य का ग्राहक है। इस लिए करण में घञ् दुर्लभ है यह कहना ही असङ्गत है।

ऊकालः। जो तो "ऊशब्द से अपने उच्चारण का काल लक्षित होता है।" यह कहा वह ठीक नहीं है। क्योंकि ऊशब्द से लक्षित होने वाले उच्चारण काल का सादृश्यादि रूप भेद सम्बन्ध से उत्तर पदार्थ के साथ अन्वय ही अनुपपन्न होता है। नामार्थों में भेद सम्बन्ध से अन्वय हो नहीं सकता है और भेद से अन्वय करने की भी सङ्गति नहीं हो

मुच्चारणकालः सर्वस्यैवोकारस्योच्चारणकालो भवतीत्यस्ति नियमो येन तादृशकालभेदघटितो लक्षणवाक्यार्थः सकललक्ष्यसाधारणः स्यात् । क्वाचित्कन्तु कालैक्यं सम्भवदपि न लक्षणस्य सकलसाधारण्याधायकम् । स्वोच्चारणकालसदृशस्वोच्चारणयोग्यकालो लक्ष्यत इति युक्तं वक्तुम् । सादृश्यञ्च मात्रत्वादिकालगतधर्मेण बोध्यम् ।

तस्यादितः इति । यत्त्वत्र" ह्रस्वग्रहणमविवक्षितम्, स्वरितस्यार्धमुदात्तमित्येव बोध्यम् । तदविवक्षायां च मानं लक्ष्यदर्शनं प्रातिशाख्यञ्च" इत्याहुः । तत्र लक्ष्यदर्शनं तावदसाधकम् दृश्यमानलक्ष्यस्य ऋग्वेदमात्रगतत्वेन । तत्र च प्रातिशाख्यगतानाम्—

उदादायार्धमस्याथ शिष्टं निघ्नन्ति कम्पितम् ।

इत्यादीनां तत्तच्छाखापराणां विशेषवचनानां बाधकतया सकललोकवेदसाधारणस्यास्य व्याकरणस्य विशेपविषयातिरिक्तविषयताया एव कल्पयितुं युक्तत्वेन व्यर्थपदताकल्पनस्यान्याय्यत्वात् ।

बालक्रीडा

रही है। ऐसा कोई नियम नहीं है कि अकारादि का उच्चारणकाल एवं उकार के उच्चारण का काल होता है जिससे इस तरह के काल के भेद से घटित लक्षणवाक्यार्थ सकल लक्ष्य साधारण हो सकता है। किसी जगह में काल की एकता तो होती हुई भी लक्षण को सकल ह्रस्वादि साधारण नहीं बना सकती है। हां यह कह सकते हैं स्वोच्चारण काल के सदृश स्वोच्चारण काल के योग्य होता है वहाँ पर सादृश्य को मात्रत्वादि कालगत धर्म के द्वारा समझना चाहिए।

तस्यादितः इति। जो तो यहां पर कहा है कि ह्रस्वग्रहण अविवित है अतः स्वरित का अर्द्ध उदात्र ही है ऐसा समझना चाहिए। ह्रस्वग्रहण की अविवक्षा में प्रमाण है लक्ष्य का दिखाई पड़ना एवं प्रतिशाख्य। उन में लक्ष्य का दिखाई पड़ना प्रमाण साधक नहीं है। क्योंकि जो लक्ष्य दिखाई पड़ते हैं वे केवल ऋग्वेद मे ही है। उनमें प्रतिशाख्य इसके अर्ध को उदात्त बनाकर शिष्ट में कम्पित का स्वरित का निबन्ध करते हैं।

इत्यादि तत्रच्छाखाप्रधान विशेष वचनों के बाधक होने से वेद एवं लोक सर्वसाधारण व्याकरण की विशेष विषयता को छोड़कर सर्वसाधारण विषयता का कल्पना करना उचित है अतः व्यर्थपदत्व की कल्पना करना अन्याय है।

इत्यञ्च यत्र विशेषवचनं नास्ति लक्ष्यं च निश्चितं तत्र लौकिके प्रयोगेऽर्धमात्रैव दीर्घप्लुतयोरुदात्तो बोधयितुं ह्रस्वग्रहणम् । नहि प्रातिशाख्यवचनैरस्यैकवाक्यतोचिता ।

यत्तु "मध्ये कम्पयेत् कम्पम्" इत्यादि । तदपि न साधकम् , अर्धमात्रार्धमेव वा इति पक्षयोः पाणिनिकृतसामान्यलक्षण शाकल्यादिकृत विशेषलक्षणाभिप्रायकतया व्यवस्थितेः । एवकारो विशेषलक्षणेन कृतायाः सामान्यलक्षणव्यावृत्तेरनुवादाय वाशब्दो व्यवस्थितविकल्पार्थः ।

एतेन "अर्द्धह्रस्वशब्देन अर्धमात्रा लक्ष्यते" इति हरदत्तग्रन्थस्तु मतान्तरपरतया कथञ्चिन्नेयः" इति यदुक्तं तदपि परास्तम् । हरदत्तोक्तस्यैव प्रकृतसूत्राशयात् ।

"ऋ लृ वर्णयोः" । यत्तु "आच आच रलौ तौ चेमौ वर्णौ च उश्च उल् च ऋलोस्तयोर्वर्णयोरिति वा प्रथमान्तेन परिनिष्ठितविभक्त्यन्तेन वा विग्रहः"

बालक्रीडा

इस प्रकार जहाँ विशेष वचन नहीं है और लक्ष्य निश्चित है वहाँ लौकिक प्रयोग में दीर्घ एवं प्लुत के उदात्त में अर्धमात्रा ही होती है ऐसा समझाने के लिए ह्रस्वग्रहण किया है । अतः प्रातिशाख्य के वचनों के साथ इसकी एकवाक्यता करना उचित नहीं है ।

जो तो मध्य में कम्प का कम्पन करना चाहिए इत्यादि कहा है वह भी साधक नहीं है । क्योंकि "अर्धमात्रा अथवा अर्ध ही" इन दोनों पक्षों की व्यवस्था पाणिनि के किये साधारण लक्षण और शाकल्य के किये विशेष लक्षण के अभिप्राय से की जा सकती है । यहाँ अर्धमेव में एवकार विशेष लक्षण से की गई सामान्य लक्षण की व्यावृत्ति के अनुवाद के लिए है और एव वा में वाशब्द व्यवस्थित विकल्प के लिए है । इससे "अर्धह्रस्वशब्द से अर्धमात्रा लक्षित होती है" ऐसे हरदत्त के ग्रन्थ को मतान्तर परक मानकर किसी तरह संगति बैठानी चाहिए । ऐसा जो कहा था वह भी परास्त हो गया क्योंकि हरदत्त का कहा हुआ ही प्रकृत सूत्र का आशय है ।

जो तो कहा कि आच आच रलौ वे और ये वर्ण ऐसा प्रथमान्तसे अथवा उश्च उल्च् ऋलोः उ और उल् ऋल हुए इन वर्णो का ऐसे परिनिष्ठित विभक्त्यन्तर से विग्रह होता है । वह ठीक नहीं है । क्योंकि

इत्याहुः—तन्न। "रलौ" इति रूपस्यासिद्धेः "ऋत्यकः" इति शाकल प्रकृतिभावेन तदभावे सवर्णदीर्घेण च णादेशस्य बाधात्।

न च शाकलप्रतिषेधपक्षे सवर्णदीर्घाप्रसक्तेर्लृकारस्य "ऋतो ङि" इत्यलि गुणे कृते निमित्ताभावात्प्रकृतिभावस्य दीर्घस्य चाप्राप्त्या यणादेशो निर्बाध एवेति वाच्यम्। अचः परस्मिन्,इति गुणस्यालः स्थानिवद्भावेन प्रकृतिभावनिमित्तस्य जागरूकतया तदप्रवृत्तेरयोगात्। न च प्रकृतिभावः पदान्तविधिः, विकाराभावमात्रपर्यवसितस्य तस्य वृक्षवादौ वलोपस्येव पदचरमानवयवत्वात्। भावसाधनस्यैव विधिशब्दस्य "न पदान्त" सूत्रे षडिकानुरोधेनाकरे सिद्धान्तितत्वात्। इत्थं च प्रकृतिभावपक्षे ऋ अलावित्येव रूपम्।

न च प्रकृतिभावाभावपक्षेन्तरङ्गत्वात्प्रवृत्तं सवर्णदीर्घं बाधित्वा "वार्णादाङ्गं बलीय" इति प्रथमं गुणे कृते निमित्ताविरहात् सवर्णदीर्घाप्रसक्तौ

बालक्रीडा

आच आच इससे रलौ इस रूप की सिद्धि ही नहीं हो सकती है। क्योंकि "ऋत्यकः" इस सूत्र के द्वारा शाकलमत से किये प्रकृतिभाव से और प्रकृति भाव नहीं हुआ तो सवर्णदीर्घ से यणादेश का बाध हो जाता है। अर्थात् ऋके स्थान में ररूप यण् का और लृ के स्थान में लरूप यण् का बोध हो जाता है।

यह नहीं कहना चाहिए कि शाकल के पक्ष में सवर्णदीर्घ की अप्रसक्ति हो जाने से लृकार को "ऋतोङि" अल् को गुण करने पर कारण के अभाव में प्रकृतिभाव की और दीर्घ की अप्राप्ति यण् के आदेश में कोई बाधा नहीं है। "क्योंकि अचः परस्मिन" इस सूत्र से गुण के अल् के स्थानिवद्भाव से प्रकृतिभाव का निमित्त जागरुक हो गया है अतः उसकी अप्रवृत्ति का योग नहीं है। और प्रकृतिभाव पदान्त विधि नहीं है। क्योंकि केवल विकार के नहीं होने मे ही पर्यवसित होनेवाला प्रकृतिभाव वृक्षवादि में वलोप को तरह पद का चरम अवयव नहीं हुआ है। अतः न पदान्त सूत्र में षडिकानुरोध से विधि शब्द का भाव प्रत्यय से सिद्ध होना ही आकर में सिद्धान्तित है। इस प्रकार प्रकृतिभाव पक्ष में ऋ अलौ यही रूप होता है।

यह नहीं कह सकते हैं कि प्रकृतिभाव के नहीं होने के पक्ष में अन्तरङ्ग होने के कारण प्रवृत्त होनेवाले सवर्णदीर्घ को बाधकर वर्णविधि की अपेक्षा अङ्गविधि बलवान् होती है इस न्याय के बल पर पहले गुण कर लेंगे। फिर

यणेव न्याय्य इति वाच्यम् । समानाश्रय एव वार्णादाङ्गस्य बलीयस्त्वात् । गुणे-कृते तस्य स्थानिवत्त्वात् सवर्णदीर्घप्रवृत्तेरौचित्याच्च । न च दीर्घविधौ स्थानिव-द्भावनिषेधः शङ्क्यः । स्वरदीर्घयलोपेषु लोपाजादेशस्यैव स्थानिवत्त्वनिषेधात् ।

एवं "पदान्तविधौ न स्थानिवत्" इति निषेधोऽपि नात्र प्रवर्त्तते । सवर्ण-दीर्घस्य पदचरमावयवत्वाभावाद्विशिष्टस्यानिष्पत्तेः । न च ऋ लृ वर्णयोः पदत्वात् तदादेशस्य दीर्घस्य पदत्वं व्यपदेशिवद्भावात् तच्चरमावयवत्वञ्चेति वाच्यम् । अजादौ सर्वनामस्थाने परे पदसंज्ञासामान्यस्य भाष्यकारमते निषिद्धतया परम-वाचावित्यत्रेव द्विवचनात् पूर्वभागस्य पदत्वासिद्धेः । "असर्वनामस्थाने च" इति निषेधेन साहजिकसुबन्तत्वप्रयुक्तपदताया इव आतिदेशिकसुबन्तत्वप्रयुक्तपदताया अपि निवृत्तेः । न च "उत्तरपदत्वे च" इति वचनारम्भपक्षे सर्वनामस्थाने परे पदसंज्ञाविधिनिषेधयोरभावात् सवर्णदीर्घस्य प्रागुक्तदिशा स्यादेव पदान्तत्व-मिति वाच्यम् । उश्च ऊश्च उ३श्च वः इत्यत्र पक्षे शाकलप्रकृतिभावस्य सर्व-

बालक्रीडा

निमित्तके अभाव में सवर्णदीर्घ की प्राप्ति नहीं होने से यण् का ही होना न्याय्य है । क्योंकि समान स्थलमें ही वार्ण की अपेक्षा आङ्ग बलवान् होता है । गुण के करने पर उसमें स्थानिवद्भाव के हो जाने से सवर्ण दीर्घ की प्रवृत्ति का हो जाना उचित भी है । यह शंका नहीं करना कि दीर्घविधि में स्थानि-वद्भाव नहीं होता है । क्योंकि उदात्तादि स्वर दीर्घ एवं य के लोप में लोप का और अजादेश का ही स्थानिवद्भाव निषिद्ध है ।

इस प्रकार पदान्तविधि में स्थानिवद्भाव नहीं होता है इस निषेध की भी यहां प्रवृत्ति नहीं होती है । क्योंकि सवर्णदीर्घ पद का चरमावयव नहीं होता है अतः विशिष्ट की ही निष्पत्ति नहीं हो पाती है । यह नहीं कहना चाहिए कि ऋवर्ण और लृवर्ण पद है उनके स्थानमें होनेवाला दीर्घ पद है व्यपदेशिवद्भाव से वह चरमावयव भी है । क्योंकि अजादि सर्व-नाम स्थान के परे रहते पदसंज्ञा सामान्य का भाष्यकार के मत में निषेध है । अतः परमवाचौ यहां की तरह द्विवचन होने से पूर्व भाग पद ही नहीं है । असर्वनामस्थाने अर्थात् सर्वनामस्थान नहीं होता है इस निषेध से साहजिक सुबन्तत्वप्रयुक्त पदता की तरह आतिदेशिक सुबन्तत्वप्रयुक्त पदता की भी निवृत्ति हो जायगी । "उत्तरपदत्वे च" इस वचन के आरम्भ के पक्ष में सर्वनामस्थान के परे रहते पद संज्ञा की विधि और निषेध के नहीं होने से सवर्ण दीर्घ का पदान्तत्व पर्वोक्त मार्ग से होही जायगा ऐसा नहीं कहना

नामस्थाने पदसंज्ञानिषेधं विना दुर्वारत्वेन "उत्तरपदत्वे चापदादिविधौ" इति वचनारम्भेऽप्यनिवारणात् ।

यदि तु पूर्वस्यैव विधौ स्थानिवद्भावो; न तु पूर्वापरयोर्विधौ इति निरीक्ष्यते तदापि गुणापेक्षयान्तरङ्गत्वेन सवर्णदीर्घ एव बलवानिति प्रागुक्तदूषणान्नास्यैव निस्तारः ।

यच्च रलोरित्यपि तैरुक्तं तदप्यसङ्गतमेव—शाकलप्रकृतिभावेन सवर्णदीर्घेण च ऋकारस्थाने यणादेशस्य बाधात् ।

ननु शाब्दं परत्वं नित्यत्वञ्च आश्रित्य परस्य यणादेशे कृते प्रकृतिभावदीर्घयोरप्रसक्तौ तस्य स्थानिवद्भावादचि यणादेशो निर्बाधः । न च स्थानिवद्भावादेव तयोः प्राप्तिरिति वाच्यम् । सवर्णदीर्घस्य पूर्वमात्रस्य विधित्वाभावेन तस्मिन् कर्त्तव्ये स्थानिवद्भावानुपपत्तेरुक्तत्वात् । प्रकृतिभावस्यात्र पाक्षिकतया पक्षे प्रवृत्त्यभावस्य सिद्धेः । न चान्तरङ्गत्वात् सवर्णदीर्घप्रवृत्तिः प्रथमं दुर्वारेति वाच्यम् ।

बालक्रीडा

चाहिए । क्योंकि उश्च ऊश्च उ३श्च वः इस पक्ष में शाकलप्रकृतिभाव को सर्वनामस्थान में पदसंज्ञा के निषेध के विना कोई नहीं रोक सकता है। अतः "उत्तरपदत्वे चापदादिविधौ" इस वचन के आरम्भ में भो प्रकृतिभाव का निवारण नहीं हो सकता है ।

अगर तो पूर्व की ही विधि में स्थानिवद्भाव है पूर्वापरविधि में नहीं है ऐसा देखते हैं तब भी गुणकी अपेक्षा से अन्तरंग होने के बदौलत सवर्णदीर्घ ही बलवान् है अतः प्रागुक्त दूषण से भी इसका निस्तार नहीं है।

और रलोः ऐसा भी जो उन्होंने कहा हैं वह भी असङ्गत हो है क्योंकि शाकलप्रकृतिभावसे ओर सवर्णदीर्घ से ऋकारके स्थान में यणादेश का बाध हो जाता है ।

ननु से एक पक्षका उत्थान करते हैं कि शब्द परत्व और नित्यत्व का आश्रयण करके पर को यणादेश के करने पर प्रकृतिभाव और सवर्णदीर्घ की अप्रसक्ति प्राप्ति नहीं होने पर उसको स्थानिवद्भाव के बल से अच् परे रहते यणादेश होना निर्बाध है । स्थानिवद्भाव से यण् ही होगा ऐसी क्या बात है । स्थानिवद्भाव के बलपर तो प्रकृतिभाव और सवर्णदीर्घ की भी प्राप्ति है ऐसा नहीं कहना चाहिए । क्योंकि केवल पूर्व को सवर्णदीर्घ की विधि नहीं

"नाजानन्तर्यं" इति निषेधस्य जागरूकत्वादिति चेत् मैवम्। "असिद्धं-बहिरङ्गमन्तरङ्गे" ईति परिभाषाया "नाजानन्तर्ये" इति निषेधेन निवृत्तिर्न तु "अन्तरङ्गं बलीय" इति परिभाषाया इति। "अचः परस्मिन्" इति सूत्रगत कौस्तुभे भवतैव व्यवस्थापितत्वेन सवर्णदीर्घस्याक्षतेः। अत एव "अचः परस्मिन्" इति सूत्रे आरभ्यमाणे नित्योऽसौ

| नित्यः परयणादेश | परश्चासौ व्यवस्थया।

युगपत्सम्भवो नास्ति बहिरङ्गेण सिद्धयति॥

इति भाष्यान्ममोक्तं सङ्गच्छते।

बालक्रीडा

है इतनी ही बात नहीं है अपितु उसके कर्त्तव्य में स्थानिवद्भाव ही अनुपपन्न होता है। ऐसा पहले कहा है और प्रकृतिभाव यहां पाक्षिक है अतः पाक्षिक होने से पक्ष में प्रवृत्ति का अभाव सिद्ध ही है। यह नहीं कहें कि अन्तरङ्ग होने से सवर्णदीर्घ की प्रवृत्ति ही प्रथम होती है उसको कोई रोक नहीं सकता है। क्योंकि नाजानन्तर्य निषेध जागरूक है यदि ऐसी बात है तो ऐसा मत कहिए। क्योंकि "नाजानन्तर्य" इस निषेध से असिद्धं बहिरङ्गमऽन्तरङ्गे इस परिभाषा की निवृत्ति होती है ऐसा आप ही ने अचः परस्मिन् इस सूत्र में सिध्युपायवार्तिकम् ऐसा शीर्षक देकर लिखा है –

आरभ्यमाणे नित्योऽसौ फिर सिध्युपायबाधक वार्तिक शीर्षक देकर लिखा है —

परश्चासौ व्यवस्थया। युगपत्सम्भवो नास्ति। फिर सिध्युपाय-साधक वार्तिक शीर्षक देकर लिखा है—

बहिरंगेण सिध्यति।

इसका भाष्य क्रमशः यह है।

पर को यणादेश करने पर पूर्व को प्राप्त नही होता है। क्योंकि ईकार यण् से व्यवहित है अतः स्थानिवद्भाव से होता है।

क्या कारण है पर को होता है पूर्व को नही होता है। क्योंकि नित्य है। पर यणादेश नित्य है। पूर्वयणादेश के करने पर भी और न करने पर भी प्राप्त होता है। नित्य होने से पर को यणादेश करने पर पूर्व को प्राप्त नहीं होता है। स्थानिवद्भाव से होता है।

यदि वा विवरणकारोक्तरीत्या "षत्वतुकोरसिद्ध" इति । अत्र "नाजानन्तर्य" इति परिभाषा न ज्ञाप्यते, किन्तु बहिरङ्गपरिभाषाया अनित्यत्वमित्युच्यते, एवमपि प्रमाणसिद्धप्रयोगनिष्पत्त्यर्थं तत्स्वीक्रियते न तु अप्रामाणिकप्रयोग सिद्धयर्थम् ।

"अणुदित्सवर्णस्य" । यत्तु "प्रत्याहारग्रहणेषु तद्वाच्यवाच्ये निरूढा लक्षणा"

बालक्रीडा

यह भी प्रयोजन नहीं है । अन्तरङ्गलक्षण कार्य में बहिरङ्ग लक्षण कार्य असिद्ध है । इस नियम से बहिरङ्ग लक्षण परयणादेश के असिद्ध हो जाने से अन्तरङ्ग लक्षणपूर्व यणादेश ही होगा । इस परिभाषा का आश्रयण अवश्य करना चाहिए । क्योंकि कत्र्यां हत्र्यां इसमें "उदात्तयणो हल्पूर्वात्" यह स्वर जैसे हो जाय । इससे भी स्वर सिद्ध है । कैसे—

तब कहते हैं कि इस आरभ्यमाण योग में पूर्वयणादेश नित्य है । क्योंकि परयणादेश के करने पर भी और न करने पर भी पूर्वयणादेश प्राप्त होता है । इसपर कहते हैं कि—परयणादेश भी नित्य है क्योंकि पूर्वयणादेश के करने पर भी और न करने पर भी यह पर है अर्थात् एक में कार्यित्व भी रहे और निमित्तत्व भी रहे ऐसा नहीं हो सकता है क्योंकि विरोध हो जाता है अतः परत्व से व्यवस्था करनी पड़ती है । तब कैसे सिद्ध होगा । क्योंकि कभी "पूर्वयणादेश नित्य है" ऐसा कहते हैं और कभी "परयणादेश" नित्य है – ऐसा कहते हैं । उत्तर—कहते हैं कि बहिरङ्ग से अर्थात् असिद्धं बहिरङ्गलक्षणमन्तरङ्गलक्षणे इस से सिद्ध होता है ।

इस भाष्य से मेरा कथन सिद्ध हो जाता है । यहाँ कुचमर्द्न में नित्यः परयणादेशः पाठ छापा है किन्तु भाष्य में "आरभ्यमाणे नित्योऽसौ" ऐसा पाठ है । यह वार्तिक है । वह भाष्य है उक्त वार्तिक का ।

यदि वा विवरणकार की उक्तरीति के अनुसार "षत्वतुकोरसिद्धः" इसमें "नाजानन्तर्ये" इस परिभाषा का ज्ञापन नहीं होता है । किन्तु बहिरङ्ग परिभाषा अनित्य है ऐसा कहते है । इस तरह भी प्रमाणसिद्ध प्रयोग की निष्पत्ति के लिए या अप्रामाणिक प्रयोग की सिद्धि के लिए उसको स्वीकार करते हैं ।

अणुदित्सवर्णस्य । जो तो "प्रत्यहारों के ग्रहण करने में तद्वाच्यके वाच्य में निरूढा लक्षणा है" इस अर्थ का इस सूत्र के कौस्तुभ में प्रपञ्च

इत्यमुमर्थमेतत्सूत्रगतकौस्तुभे प्रपञ्चयाचक्रुः। तथा हि "अकः सवर्णे दीर्घः" इत्यादावक्प्रत्याहारान्तरीकारादयः कथं ग्राह्याः। नहि तद्वाचकः शब्दः तस्मिन् सूत्रे उपात्तोऽस्ति। नन्वक्शब्देन इकारादयोऽप्युपस्थिता इति चेत्तर्हि वाक्यार्थे तेऽन्वयन्तु नाम पदार्थसंसर्गस्य वाक्यार्थत्वात् न तु तेऽपि स्वार्थोपस्थापका अनुच्चारितत्वात्। अत एव ऋचं वेत्तीति अत्र शब्दविशेषं वेत्ति इत्येवार्थो न तु तदर्थं वेत्तीत्यादि।

तत्रानुच्चारितत्वादगादिसंज्ञाप्रतीता इकारादयः स्वसंज्ञिनामीकारादीनां नोपस्थापका इत्याशयस्तावदसङ्गत एव अर्थोपस्थितौ वाचकतावच्छेदकरूपेण। वाचकसामान्यज्ञानस्यैव तन्त्रत्वात्। अन्यथा रहसि मौनाकुलितवदनस्य पुस्तकसमीक्षमाणस्य ग्रन्थार्थशाब्दबोधापत्तेः। शाब्दकारणतावच्छदककोटावुच्चारितत्व प्रवेशे गौरवाच्च। नापि शक्त्युपस्थापितस्य न बोधकत्वं लिप्याद्युपस्थापितस्य

बालक्रीडा

किया है। जैसे—"अकः सवर्णे दीर्घः" इत्यादि प्रत्याहार घटित सूत्रों में अक् प्रत्याहार के भीतर ईकारादि वर्णों का ग्रहण कैसे होगा। क्योंकि इनका वाचक कोई शब्द इस सूत्र में उपात्त नहीं है। अगर कहें कि अक् शब्द से ईकारादि भी उपस्थित हो जाते हैं तब वाक्यार्थ में उनका अन्वय हो जाय भलेहो किन्तु वे भी स्वार्थ के उपस्थापक नहीं होते हैं क्योंकि पदार्थों का संसर्ग ही वाक्यार्थ है। और पदार्थ संसर्ग को कहा नहीं है। अत एव (ऋचं वेत्ति) ऋचा को जानता है इसका शब्द विशेष को जानता है यही अर्थ होगा न कि उसके अर्थ को जानता है। इत्यादि।

इस में उच्चारण नहीं होने के बदौलत अगादि संज्ञा से प्रेरित इकारादि अपने संज्ञी ईकारादि के उपस्थापक नहीं है ऐसा आशय असङ्गत ही है। क्योंकि अर्थ की उपस्थिति में सामान्यतः वाचकतावच्छेदक रूप से वाचक का ज्ञान तंत्र है। ऐसा यदि नहीं मानेंगे तो एकान्त में बैठा है मौनी है मुख को बन्द कर लिया है और पुस्तक को देख रहा है उस अवस्था में यानी उच्चरित हुआ ही शब्द अर्थ का प्रत्यायक होता है अनुच्चारित प्रत्यात्यक नहीं होता है ऐसी अवस्था में मौनो को पुस्तक के देखने पर भी ग्रन्थ के अर्थ का शाब्दबोध नही होगा। अर्थात् शाब्द वोध के नहीं होने की आपत्ति लग जायगी। इतना ही नहीं है कि शाब्द बोध नहीं होगा इसके सिवाय शाब्दबोधीयकारणतावच्छेदक कोटि में उच्चरितः शब्दः अर्थं प्रत्याययति नानुच्चरितः का निवेश करेंगे तो गौरव

तु बोधकत्वमित्यपि राजाज्ञास्ति। अग्निनिष्ठार्थशक्ततावच्छेदकानुपूर्व्या ज्ञानाद ग्नित्वादिनार्थविशिष्टार्थशक्ततावच्छेदकानुपूर्व्यज्ञानादर्थत्वादिना च रूपेणार्थस्य वेदनकर्मतया बोधापत्तेरनुपपत्तेः।

ननु कैयटोक्तरीत्या यत्र प्रकरणादिवशाद्विशिष्टसन्निवेशापि "अग्निमीडे" इत्यादिरूपा ऋक् ऋक्शब्देन प्रतीयते तथार्थं वेत्तीति बोध आपाद्यते इति चेत्— एवमर्थकर्मत्वविशेषणकार्थवेदनविषयकबोधापादनमयुक्तमेव। अर्थवत्त्वविशिष्टवाचकस्य तदुत्तरकर्मताबोधकभिभक्तेश्चाभावात्।

नन्वर्थपदमीडनादिरूपार्थविशेषपरमिति चेत्। एवमपि तद्वाचकोत्तरकर्मविभक्तिज्ञानस्य विरहेण तत्कर्मकवेदनबोधापादानस्यासङ्गतत्वात्। वक्ष्यमाणेन हेतुना अग्निकर्मकबोधस्याप्यनापाद्यत्वात्।

बालक्रीडा

भी हो जायगा। और ऐसी भी कोई राजा की आज्ञा नहीं है कि शक्त्युपस्थित ही बोधक होता है लिपि संकेत वगैरह से उपस्थित बोधक नहीं होता है। अग्निनिष्ठ अर्थशक्ततावच्छेदक आनुपूर्वी के समझने से और अग्नित्वादि के द्वारा अर्थ विशिष्ट अर्थशक्ततावच्छेदक आनपूर्वी के नहीं समझने से अग्नित्वादि रूप से अर्थ का जो वेदन क्रिया की कर्मता से वोध होने की आपत्ति अनुपपन्न हो जायगी।

अगर कहें कि कैयट की बतलाई हुई रीति से जहां प्रकरणादि के वश से विशिष्ट सन्निवेशवाली भी "अग्निमीडे" इत्यादि रूपा ऋक् जहां ऋक् शब्द से प्रतीत होती है वहां अर्थ को जानना ही है ऐसे बोध का आपादन होता है तो इस प्रकार भी अर्थ कर्मत्व है विशेषण जिसमें ऐसा जो अर्थ वेदन विषयक बोध उसका आपादन अयुक्त ही है। क्योंकि अर्थत्व से विशिष्ट वाचक शब्द के बाद कर्मता की बोधक विभक्ति नहीं है। जो तो ऋक् शब्द के वाद द्वितीया है वह आनुपूर्वी विशेष से अवच्छिन्न ऋक् की ही कर्मता के बोधन करने में समर्थ है न कि अर्थनिष्ठ कर्मता के बोधन में समर्थ है क्योंकि वह ऋक् शब्द का अर्थ नहीं है।

अगर कहें कि यहां अर्थ पद ईडनादिरूप अर्थ विशेष परक है। इस तरह भी अर्थविशेष के वाचक पद के बाद कर्मार्थक विभक्ति ज्ञान के विरह से अर्थात् नहीं होने से ईडनरूप अर्थ कर्मक ज्ञान के बोध का आपादन असङ्गत ही है। क्योंकि आगे कहे जाने वाले हेतु से अग्नि कर्मक बोध भी आपाद्य नहीं है।

अथ "अग्निमीडे" इत्यादि ऋगर्थस्य कर्मतासंसर्गेण वेदनेऽन्वयबोध आपद्यते "अग्निमीडे" इति वाक्यत इति चेत्? ऋक् शब्दोत्तरद्वितीयाश्रुतिमाहात्म्याद् ऋग्विशेषस्य कर्मताद्वारा वेदनान्वयबोधे सति निराकांक्षत्वात्तदर्थस्य कर्मतासंसर्गेणान्वयबोधनासङ्गतेः।

अथ कथं प्रत्याहारग्रहणे सवर्णग्रहणमनुपदेशात्, ह्रस्वसम्प्रत्ययादिति चेत्, इत्थं देवदत्तादिशब्दानां घटत्वावच्छिन्ने गृहीतसंकेतस्य पुंसो देवदत्तः शोभते इत्यस्माद्वाक्याद् घटशब्द एव शोभनोद्देश्यतया भासते। तद्बोधक देवदत्तपदे तदुद्देश्यतानुगुणयोर्योग्यविभक्त्यन्तत्वतद्विधेयप्रयोगोच्चरितत्वयोः सत्वात्। न तु घटशब्दोपस्थितोऽपि घटः। तद्बोधकघटपदस्य तयोर सम्भवात्। यथा देवदत्तं न जानातीत्यस्माद्वाक्याद् घटशब्दं न जानातिकर्मतया न घटम्। उभयत्रापि हेतोरुक्तेः तद्बोधकघटपदोत्तारं कर्मताबोधकविभक्तेर

बालक्रीडा

अथ अगर कहें कि अग्निमीडे इस वाक्य से अग्निमीडे इत्यादि ऋचा के अर्थ का कर्मतासम्बन्ध से वेदन होने पर अन्वय बोध आपन्न होता है तो वह भी ऋक् शब्द के बाद सुनाई पड़ने वाली द्वितीया के माहात्म्य से ऋग् विशेष की कर्मता के द्वारा ही अन्वय बोध होता है। अन्वय बोध के हो जाने पर निराकांक्ष हो जाने से कर्मता संसर्ग से अन्वय का बोधन असङ्गत ही है।

अथ कहिए। प्रत्याहारों के ग्रहण में सवर्ण का ग्रहण कैसे होता है क्योंकि उसका उपदेश नहीं किया गया है। अगर कहै कि प्रत्याहारगत ह्रस्व वर्णो के सम्प्रत्यय से सवर्ण का ग्रहण होता है तो यहां जिस पुरुष को देवदत्त शब्द का घटत्वावच्छिन्न में संकेतग्रह हुआ है उस पुरुष को देवदत्त सुशोभित वो रहा है इस से घट शब्द ही शोभन क्रिया के उद्देश्यरूव से भासित होता है। घटवोधक देवदत्त पद में शोभनोद्देशगता के अनुगुण योग्यविभक्तयन्तत्व और विधेय प्रयोगोच्चरितत्व दोनों हैं किन्तु घट शब्द से उपस्थित घट नहीं है। वहां देवदत्त शब्द से उपस्थित घट है क्योंकि घटरूप अर्थ के वोधक घट पद का उन दोनों में अभाव है। जैसे देवदत्त नहीं जानता है इस वाक्य से घट शब्द को नहीं जानता इस तरह कर्मतया घट को नहीं जानता है। दोनों जगहों में हेतु के कह देने से घटरूपार्थ बोधक घटपद के उत्तरमें कर्मताबोधक विभिक्ति का अभाव है। इस प्रकार यहाँ भी

भावात्। एवमिहापि "अकः सवर्णे दीर्घः" इति वाक्याद् दीर्घोद्देश्यता रूपं स्थानित्वमक्बोध्यानामक्षरसमाम्नायगतानामिकारादीनामेव स्यान्नतु तद्बोध्यानामीकारादीनां, तदुपस्थापके तादृशोद्देश्यताबोधिकायाः स्थानषष्ठ्या अभावात्। स्थानषष्ठीयुक्ते च तदुपस्थापकताविरहात्। अतः श्रीशाद्यसिद्धिरिति तेषामाशयः। नत्वनुच्चारितानामथोपस्थापकतैव नास्तीति। उक्तदोषप्रसङ्गात्। वार्तिकपदव्याख्या च एवं प्रत्याहारे उच्चारिते सतीति शेषः। सवर्णाग्रहणं सवर्णानामीकारादीनामग्रहणमन्वयबोधाजनकत्वं प्राप्नोतीति शेषः। अनुपदेशाद् ईकारादीनां मध्यगत्वाभावादाद्यन्तरूपया संज्ञया सह तेषामसति संकेतपरिच्छेदे प्रतिज्ञासिद्धिः। ह्रस्वसम्प्रत्ययात् ह्रस्वैरुपस्थापनात्। उच्चार्यमाणसम्प्रत्यायकत्वात्—उच्चार्यमाणस्य तत्तद्बोधानुकूलयोग्यविभक्त्यन्तत्वादिना ज्ञातस्य सम्यगुद्देश्यविधेयभावविवेकेन प्रत्यायकत्वान्वयबोधकत्वात्। शब्द-

बालक्रीडा

अकः सवर्णे दीर्घः इस वाक्य से दीर्घोद्देश्यतारूप स्थानित्व अक्पद से बोध्य अक्षरसमाम्नायगत इकारादि का ही होगा न कि उनसे बोध्य ईकारादि का स्थानित्व होगा। क्योंकि उसके उपस्थापन में तादृश उद्देश्यता का बोधकरानेवाली स्थान षष्ठी का अभाव है। स्थानषष्ठी से युक्त होने पर वे तदुपस्थापकता के अभाव से श्रीश इत्यादि की असिद्धि हो जायगी ऐसा उन लोगों का आशय है। यह सिद्धान्त नहीं है कि उच्चरित ही शब्द अर्थ का उपस्थापक होता है अनुच्चरित उपस्थापक नही होता हैं। ऐसा मानने पर प्रत्याहारग्रहण में सवर्णोंका ग्रहण कैसे होगा "इस उक्त दोष का प्रसङ्ग उपस्थित हो जायगा। वार्तिक के पद की व्याख्या भी इस प्रकार करनी पड़ेगी कि प्रत्याहार के उच्चारण करने पर। जोकि इतना अंश शेष है छूट गया है अतः पूरण करना है। और सवर्ण का ग्रहण नहीं करेंगे तो सवर्ण ईकारादि के ग्रहण नहीं होने से अन्वय बोधजनकत्व ही उनमें प्राप्त नहीं होता है। क्यों कि उनका उपदेश नहीं है और ईकारादि मध्यगत भी नहीं है अतः आद्यन्तरूप संज्ञा के साथ उनका संकेत से परिच्छेद नहीं होने पर प्रतिज्ञाकी असिद्धि है। ह्रस्व सम्प्रत्ययात् का अर्थ है ह्रस्व अकारादि वर्णो से उनका उपस्थापन है। उच्चार्यमाण सम्प्रत्यायकत्वात् का अर्थ है उच्चार्यमाणकामाने तत्तद् बोधके अनुकूल योग्य विभक्तयन्त के रूप से ज्ञात का सम्यक् प्रकार से उद्देश्य विधेय भाव के विवेक से प्रत्यायकत्व है माने अन्वयबोध जनकत्व है। शब्द का अवचन है माने इष्ट अन्वय के बोधका जनक नहीं है। इस प्रकार ह्रस्व वर्णो से दीर्घ वर्णों की उपस्थिति होने पर भी वह

स्यावचनम् इष्टान्वयबोधाजनकत्वम्। एवञ्च ह्रस्वैर्दीर्घाणामुपस्थितावपि सा मुधेति भावः। अथोच्चार्यमाणस्यैव शब्दस्य अर्थोपस्थापकतेति नियमस्यानङ्गीकारे देवदत्तं वेत्तीति वाक्याद् घटकर्मकवेदनबोधापत्तिरिति चेन्न—उत्तरस्य प्रागेव निवेदनात्।

प्रकृते नु अगादिसंज्ञानां षष्ठ्यादिविशिष्टेकारादौ सङ्केताभावेन च विधेया अपि अयोगादबोध एव। "ऋगित्युक्ते सपाठमात्रं गम्यते" इति भाष्यमप्यध्ययनादिकर्मत्वादिविधेयोद्देश्यतयेति शेषपूरणेन तथाविधशब्दबोधपरतयैव व्याख्येयम्। ऋक्शब्देन प्रकरणादिवशाद् विशिष्टसन्निवेशा ऋक् प्रतीयमानापि स्वार्थं न प्रत्याययति इति कैयटोऽपि एवंपरतया व्याख्येयः।

पुस्तकादिदर्शनस्थले तु नानालिपिदर्शनप्रतीतेर्नानाविधविभक्त्यन्तपदसमूहात्मकवाक्यविकल्पस्य प्रतीतेर्नानोद्देश्यकनानाविधेयकशाब्दबुद्धेः साम्राज्यम्। अत एव लिपिगतविभक्त्याद्यभिव्यञ्जकाक्षराणां प्रमादवशाद् भ्रष्टानामुपस्थितौ

बालक्रीडा

मुधा है माने व्यर्थ है। अथ अगर कहें कि उच्चार्यमाण शब्द ही अर्थ का उपस्थापक होता है इस नियम को स्वीकार नहीं करेंगे तो जिसको घटम् इस द्वितीया के एक वचनान्त पद में सकेत का ग्रहण हो गया है उसको देवदत्तं वेत्ति इस वाक्य से घटकर्मकवेदन रूप बोध होने की आपत्ति हो जायगी अर्थात् उससे वैसा बोध होने लगेगा। तो ठीक नहीं है क्यों ठीक नहीं है इसका उत्तर पहले ही कह चुके हैं।

प्रकृत में तो अगादि संज्ञाओं के विधेय भी षष्ठयादिविशिष्ट ईकारादि में संकेतग्रह के नहीं होने पर अबोध्य ही है ऋक् ऐसा कहनेपर सम्पाठ ही केवल प्रतीत होता है उस भाष्य की भी अध्ययनादि कर्मता के उद्देश्य विधेयभाव रूप से शेष के पूरण करदेने से माने छूटे हुए अंश को पूरा कर देनेसे उस तरह के शाब्दबोध में तात्पर्य है ऐसी व्याख्या करनी चाहिए। और ऋक्शब्द से प्रकरण के अनुरोध पर विशिष्ट सन्निवेशवाली ऋक् प्रतीत हुई भी स्वार्थका प्रत्यायन नहीं करती है इस कैयट की भी उस प्रकार के तात्पय से व्याख्या करनी चाहिए।

पुस्तकादि के देखने के स्थलमें तो नाना लिपियों के देखने की प्रतीति से नानाविध विभक्तियाँ जिनके अन्त में है ऐसे पदसमूहात्मक वाक्यों के विकल्प की प्रतीति से नाना उद्देश्यवाली और नानाविधेयवाली शाब्दबुद्धि का साम्राज्य है। अत एव वहाँ लिपि में विभक्ति आदि के अभिव्यञ्जक अक्षर

न भवति लिपिबोधेऽपि शाब्दधीः। भवति च तेषां स्पष्टानामुपस्थितौ। एतेन प्रतीयमानस्य प्रत्यायकत्वायोगादिति पस्पशाह्निकगतकैयटोऽपि विवरणोक्तदिशा-कथञ्चिदुन्नेय इति दिक्।

तपरस्त। यत्तु तकारविशिष्टेयं संज्ञा नत्वण्मात्रं तस्य टिघुमाद्यन्तर्गता-ण्वदिह पदैकदेशत्वेनानर्थक्यात् ग्राहकताप्रसङ्ग एव नास्तीति निष्कर्ष इति कौस्तुभेन निर्णीतम्। तदसत्। विशिष्टसंज्ञात्वे मानाभावात। सूत्रतात्पर्यवर्णनेन अस्मदाद्युत्प्रेक्षितस्य विशिष्टसंज्ञत्वस्याप्रामाणिकत्वात्। नहि पित्रा पुत्रस्य रहसि देवदत्त इति कृतं नाम स्फुटम्। अन्यक्षणेषु रहस्यज्ञेषु बन्धुषु तद्वचनमजानानेषु विदित इति नाम कृतम् अपि तु देवदत्त इति मार्दङ्गिकैर्वादयितुम्।

तथा च भाष्यम्—यद्यत्राण् ग्रहणमनुवर्त्तते ततो नियमार्थम्। अथ निवृत्तं ततः प्रापकम्। तपरस्तत्कालस्येति नियमार्थमिति चेद् दीर्घग्रहणं स्वरभिन्नानां

बालक्रीडा

जो प्रमादवश भ्रष्ट हो गये हैं छिन्न भिन्न हो गये हैं उनकी उपस्थिति शब्द से नहीं होती है किन्तु लिपिके स्पष्ट प्रतीत होने पर उन अक्षरों की उपस्थिति में शब्द से होती है। इससे प्रतीयमानका प्रत्यायकत्व के साथ सम्बन्ध नहीं होने पर भी इस पस्पशाह्निकस्थ कैयट का भी विवरणक्रम की कही हुई दिशा से उन्नयन करना आवश्यक है। यह एक मार्ग है।

तपस्ता। जो तो " तपरविशिष्ट यह संज्ञा है न कि केवल अण्। तो वह अण् घि घु भ एवं पद संज्ञाओं के अन्तर्गत अण् की तरह पद का एक देशटि होने से अनर्थक है। अतः वह सवर्ण का ग्राहक होगा ऐसा प्रसंग नहीं है ऐसे निष्कर्ष का जो कौस्तुभकार ने निर्णय किया है। वह अशुद्ध है। क्योंकि विशिष्ट संज्ञा होने में कोई प्रमाण नहीं है। सूत्र के तात्पर्य के वर्णन से हम लोगों के द्वारा उत्प्रेक्षित विशिष्ट संज्ञा अप्रामाणिक है।

पिता ने एकान्त में पुत्र का देवदत्त यह नाम नहीं किया। स्फुट है और न अन्यक्षण के रहस्य को जानने वाले वन्धुओं में देवदत्त यह नाम किया। अपितु मार्दङ्गिकों के द्वारा बजाने के लिए देवदत्त यह नाम किया जैसा कि भाष्य है। यदि यहां अण् ग्रहण का अनुवर्त्तन करते हैं तो नियमार्थ करते हैं। अथ निवृत्त है यानि अण् ग्रहण का अनुवर्त्तन नहीं करते हैं तब वह प्रापक है याने स्वतन्त्र विधायक है। अगर तपरस्तत्कालस्य यह नियमार्थ है तब दीर्घ के ग्रहण में स्वरभिन्नों का ग्रहण प्राप्त नहीं होता है।

ग्रहणं न प्राप्नोति। प्रापकमिति चेत् ह्रस्वग्रहणे प्लुतप्रतिषेधः। विप्रतिषेधात् सिद्धमिति।

यदि चात्र विशिष्टस्य संज्ञात्वं स्यात्तदा तस्यानणत्वात् पूर्वेण प्राप्त्यभावान्नियमोक्तिरसङ्गता स्यात्। तस्माद्विशिष्टस्य संज्ञात्वे बाधकविरहेऽपि नैतच्छास्त्रस्य विषयः। तकारस्तर्हि किमर्थं इति चेत्, अकारादेस्तत्कालसंज्ञात्वे लिङ्गमिति गृहाण। प्रतिपादकसंज्ञा तु अतोऽजित्यादिनिर्देशाल्लिङ्गाद् विशिष्टसंज्ञैव। न केवला संज्ञेति विभावनीयम्।

यत्तु स्वं रूपं संज्ञेति तत् पूर्वापरवाक्यापर्यालोचनात्। "अणुदित्सवर्णस्य" "तपरस्तत्कालस्य" "येन विधिस्तदन्तस्य" इत्यादिषु सज्ञासूत्रेषु प्रथमान्तानां सज्ञासमर्पकत्वेन च प्रक्रान्तेः। तथा च "प्रत्ययलोपे" इति सूत्रे भाष्ये 'स्वं रूपं शब्दस्य संज्ञा भवति इति हन्तेरपि हन्तिः संज्ञा भविष्यति स्वरूपम् इति

बालक्रीडा

अच्छा तब प्रापक है। अगर प्रापक है तब ह्रश्व के ग्रहण करने पर दीर्घ और श्रुत का प्रतिषेध भी अनुपपन्न हो जायगा। ऐसा कहना चाहिए। नहीं; ऐसा नहीं कह सकते हैं क्योंकि विप्रतिषेध से सिद्ध है इति।

अगर यहां लकार विशिष्ट यह संज्ञा है तब उसके अण् नहीं होने से प्राप्ति नहीं होगी। अतः नियमार्थ यह है ऐसा कथन असंगत हो जायगा और विप्रतिषेध भी अनुपपन्न हो जायगा। इसलिए बाधक के नहीं रहने पर भी तकारविशिष्ट संज्ञा इस शास्त्र का विषय नहीं है। ऐसी स्थिति जब है तब तकार किसलिए है। अगर ऐसा कहते हैं तो सुनो। तकार अकारादि के तत्काल की संज्ञा होने में लिंग है हेतु है। अतः प्रातिपदिक संज्ञा तो अक् अच् अण् इत्यादि निर्देशरूप लिग से तकार विशिष्ट संज्ञा ही है। केवल सज्ञा नहीं है। ऐसी विशेष भावना करनी चाहिए।

जो तो "स्वं रूपं संज्ञा" ऐसा कहते हो वह तुम्हारा कथन पूर्व वाक्य और उत्तर वाक्य के पर्यालोचन के बिना कथन है। सुनो और समझो - 'अणुदित्सवर्णस्य' तपरस्तत्कलिस्य" "येन विधिस्तदन्तस्य" इत्यादि संज्ञा सूत्रों में प्रथमान्त पद संज्ञा के समर्पक है और षष्ठयन्त पद संज्ञा के समर्थक हैं ऐसा प्रक्रम से प्राप्त है। जैसा कि "प्रत्यय लोपे" इस सूत्र का भाष्य है कि शब्द का अपनारूप संज्ञा होता है बाचक होता है। अतः आङो यम हनः इस सूत्र में उपात्त प्रयोगस्थ हन्ति यह संज्ञा होगी। स्वं रूपं सूत्र में

सूत्रेऽपि। एवं रूपग्रहणं किमर्थं, स्वशब्दस्य संज्ञा भवतीति।

इति संज्ञाप्रकरणम्।

अथ परिभाषाप्रकरणम्।

"मिदचोऽन्त्यात्"। यत्तु "शे मुचादीनाम्" इत्यादिना "अन्त्यस्याचोऽसम्भवात्" इत्यन्तेन ग्रन्थेन प्राचीनप्रक्रियाकृतां वृत्तिरदूष्यत। तत्तदाशयानवबोधात। नहि वृत्तावच इति पञ्चम्यन्तं येनान्त्यादिति पञ्चम्यन्तेन सामानाधिकरण्यं स्यात्। अपि तु सूत्रे इव वृत्तावपि निर्धारणषष्ठ्यन्तं जातौ चैकवचनमित्यर्थविसंवादाभाव एव। न ह्यचोऽन्त्यादित्युक्त एव अच इत्यस्य षष्ठयन्तत्वमन्त्यादच इत्युक्तेः। तुष्यतु भवान् एवमपि भवदुक्तो दोषः [न इति पददानमशुद्धम्]।

बालक्रीडा

भी ऐसे ही होगा। रूप ग्रहण क्यों किया स्वशब्द की भी संज्ञा होती है इसलिए किया। इति संज्ञा प्रकरण समाप्त है।

इस प्रकार मनोरमाकुचमर्दन के संज्ञाप्रकरण को आचार्यमधुसूदन शास्त्री की कृति बालक्रीड़ा हिन्दी टीका सम्पूण हो गई।

अथ अब परिभाषा प्रकरण का आरम्भ करते हैं। मिदचोत्त्यात्। जोन्न शेमुचादीनाम्" यहां शे और "अन्त्य अच् को असम्भव है" यहां तक के ग्रन्थ से प्राचीन प्रक्रियाकार की वृत्ति को दूषित किया है वह उनके आशय के नही समझने से किया है। यहाँ वृत्ति में अचः यह पञ्चम्यन्त पद नहीं है जिससे कि अन्त्यात् इस पञ्चम्यन्त पद से सामानाधिकरण हो जाय अपि तु सूत्र को तरह वृत्ति में भी अन्त्यस्य यह निर्धारणार्थक षष्यन्त पद है और जाति में एक वचन है इस तरह अर्थ में विसंवाद का अभाव ही है अर्थात् विरुद्ध कथन नहीं है क्योंकि अचः अन्त्यात् ऐसा कहने पर ही अचः यह षष्ठयन्त है और अन्त्याद चः कहने पर अचः यह षष्ठयन्त नहीं है। ऐसी उक्ति से आप भले ही तुष्ट हो जावें किन्तु ऐसा कहने पर भी आप की उक्ति में दोष है ही।

तथाहि मुचादीनामन्त्यस्याचो नुम् न स्यादिति वदतः किं तवाभिप्रेतं, मुचादीनां सर्वथैव नुम् न स्यादिति, आहोस्वित् इष्टदेशे न स्यादिति । नाद्यः । वचनानर्थक्यप्रसङ्गेन सर्वथैव नुमभावापादनस्यासङ्गतेः । नापि द्वितीयः । गुणेऽपि प्रधानबाधस्य संभवादिति वा कल्पनस्य न्याय्यत्वेन तावतैव प्रकृतेऽभीष्टसिद्धेः ।

षष्ठी स्थाने योगा । अत्रेदं बोध्यम्—इको गुणवृद्धी इतिवदयमपि योग पदोपस्थापक एवास्तु । इह शास्त्रे या निर्धारितसम्बन्धविशेषा षष्ठी सा स्थाने शब्देन युज्यते । स्थाने इति सप्तम्यन्तं तत्र उपस्थितं स्यादित्यर्थः । स्माने योगेऽस्या इति च विग्रहः । एवम् "अलोन्त्यस्य" "ङिच्च" "आदेः परस्य" "अनेकाल्शित्सर्वस्य" "तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य" "तस्मादित्युत्तरस्य" इत्यादावपि शक्यते कर्त्तुं यदि प्राचो न कुप्यन्ति ।

बालक्रीडा

तथाहि दोष को दिखाते हैं । भुवादि के अन्त्य अच् को नुम् नहीं हो ऐसा कहने वाले आपका क्या अभिप्राय है । मुचादि को सर्वथा नुम् नहीं हो ऐसा अभिप्राय है क्या ? अथवा इष्ट देश में नहीं हो ऐसा है क्या । इनमें पहला कथन ठीक नहीं है । क्यों यदि सर्वथा नुम् नहीं हो ऐसा अभिप्राय हो तो किससे नुम् प्राप्त था जो आप निषेध करते हैं अतः यह नुम् नही हो इस वचन के कथन के हो अनर्थक होने का प्रसङ्ग उपस्थित हो जायगा । जिससे सर्वथा नुम् के अभाव का आपादन असङ्गत हो जायगा । दूसरा भी ठीक नहीं । गुण में भी प्रधान के बाधका संभव है । इस बाध की कल्पना के न्याय्य हो जाने के कारण उतने से ही प्रकृत में इष्ट सिद्धि हो जाती है ।

षष्ठी स्थाने योगा । यहाँ यह समझना चाहिए कि इको गुण वृद्धि इसकी तरह यह योग भी पद का उपस्थापक ही होवे । इस शास्त्र में जो निर्धारित सम्बन्ध विशेष वाली षष्ठी है वह स्थाने शब्द से युक्त हो जाय । अर्थात् वहाँ स्थाने यह सप्तम्यन्त पद उपस्थित हो जाय । जिसके फलस्वरूप स्थान में योग जिसका है ऐसा विग्रह हो जायगा । ऐसा करने से 'अलोन्त्यस्य' "ङिच्च" "आदेः परस्य" अनेकाल् शिन् सर्वस्य" तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य" और तस्मादित्युत्तरस्य" इत्यादि में भी कर सकते हैं । यदि प्राचीन कुपित नहीं हो जायें तो ।

तस्मिन्निति । यत्तु "अचि यणित्युक्ते व्यवहिते अव्यवहिते च प्राप्ते अव्यवहितस्यैवेति पूर्वस्य परस्य च प्राप्ते पूर्वस्यैवेति नियम्यते" इति वर्णितम् । तदसत् । परिभाषा हि विध्यङ्गभूताः । ताभिरुपश्लिष्टो विधिर्निष्पन्नशक्तिकः सन्नुदाहरणे प्रवर्त्तते । प्रवृत्त्युत्तरकाले चातिप्रसक्तो नियम्यते । इह त्वचि यणि कर्तव्ये व्यवहिते अव्यवहिते च पूर्वस्य परस्य वेति स्थानं दुर्घटम् कुतः पुनरतिप्रसक्तिः । अन्तरे समीपे वा इत्यनेकसंशयदूषितत्वेन "तस्मिन्" इत्यादि परिभाषासम्बन्धात् पूर्वपरिनिष्ठितार्थरूपस्य शरीरस्य निष्पत्तेरेवाभात् प्रवृत्तिरेव दुर्घटा कुतः पुनरतिप्रसक्तिः । अन्यथा "मिदचोऽन्त्यात्" "आद्यन्तौ" "स्थानेऽन्तरतम" इत्यादीनामपि नियमविधित्वापत्तौ विगलितं शास्त्रमर्यादया । विस्रस्तमेव 'इको गुणवृद्धि' इत्यस्य नियमरूपतामाचक्षाणानां प्राचामुक्ति निरस्यंत्या भवदीययाऽपि गिरा । भाष्ये तु नियम्यते इति नियमफलपरिभाषाऽपि तत्र नियमपदेन व्यवहृता । नहि एवमन्येन व्यवहर्तुं साम्प्रतम् ।

बालक्रीडा

तस्मिन्निति । जो तो अच् परे रहते यण् ऐसा कहने पर अच् से व्यवहित में या अव्यवहित में यण् हो ऐसा प्राप्त होने पर अव्यवहित ही को और पूर्व को हो या पर को हो ऐसा प्राप्त होने पर पूर्व ही को हो ऐसा नियमन करते हैं । ऐसा कहा । वह अशुद्ध है । क्योंकि परिभाषाएं विधि की अङ्ग होती है । अतः उनसे उपश्लिष्ट हुआ विधि शक्ति को प्राप्त करके उदाहरण में प्रवृत्त होता है । और प्रवृत्ति के उत्तर काल में अतिप्रसक्त होने पर नियमित किया जाता है । यहां तो अच परे रहते यण् को करना है तब प्राप्त होता है कि वह व्यवहित में हो या अव्यवहित हो और पूर्वका हो या पर का हो इस तरह स्थान का घटित होना ही जब कठिन है तब अति प्रसक्ति के होने की स्थिति ही कहां है । अन्तर मानी दूर में हो या समीप में हो इत्यादि अनेक संशयों से दूषित हो जाने के कारण तस्मिन् इस परिभाषा के सम्बन्ध से पूर्व में हो ऐसे परिनिष्ठित शरीर वाले अर्थ की निष्पत्ति के अभाव से प्रवृत्ति का होना ही जब दुघट है तब अतिप्रसक्ति का होना कैसा अन्यथा यदि ऐसा नहीं मानेगे तो "मिदचोऽन्त्यात्" "आद्यन्तौ टकितौ" और "स्थानेन्तरतमः" इत्यादि में भी नियम विधि होने की आपत्ति होने पर शास्त्र मर्यादा विगलित हो जायगी और इको गुण वृद्धी इसके नियमरूपता को कहने वाले प्राचीनों की उक्ति का निरास करनेवाली आपकी वाणी भी विस्रस्त हो जायगी । भाष्य में नियम्यते नियमन करते हैं ऐसा नियमरूप फल की सम्पत्ति से कहा है । अत एव "अलोन्त्यस्य" इस परिभाषा का भी वहाँ नियम पद से व्यवहार हुआ है । किन्तु ऐसा किसी अन्य के द्वारा व्यवहार करना योग्य नहीं है ।

अनेकाल् । अत्र शिदनेकालङित्सर्वस्य इति यद्यपि शक्यते सूत्रयितुम् । आदेः परस्य इति अशिदनेकाल् अलोन्त्यस्य ङिच्च इति सूत्रन्यासो वा । अशिदनेकाल् इति "अलोन्त्यस्य" इत्यत्राप्यनुवर्त्तते । अलोन्त्यस्याशिदनेकालित्यस्य ङिच्च इत्यत्रासम्बन्धात् । आदेः परस्य" इत्यत्राप्यसम्बन्धापत्तेः । मण्डूकप्लुत्यानुवृत्तिस्तु क्लिष्टा । तथापि तातङो विप्रतिषेधहेतुकं सर्वादेशत्वमेवंविधसूत्रनिर्माणे दुरुपपादं स्यात् । ज्ञापकान्तरेण तदुपपादनं चदास्तां तावत् । नानेकाल्शिदिति निषेधस्तु "अनन्तरस्य विधिर्वा" इति नियमात् "आदेः परस्य" इत्यस्यैव स्यान्नतु "अलोन्त्यस्य" इत्यस्यापि ङिच्च इत्यपवादेन व्यवहितत्वाच्च ।

।। इति परिभाषाप्रकरणम् ।।

अथ अच्सन्धि प्रकरणम् ।

इको यणचि । यत्तु इक्शब्देन षट् षष्ठिर्वर्णा गृह्यन्ते यण् शब्देन सप्तेति नास्ति यथासंख्यम् "इति तन्न—" स्थानेऽन्तरतरम" इति सूत्रगतस्य

बालक्रीडा

"अनेकाल्" । यहां पर शिदनेकालङित् सर्वस्य "ऐसा यद्यपि सूत्र कर सकते हैं । अथवा "आदेः परस्य" अशिदने काल् अलोन्त्यस्य और ङिच्च ऐसा सूत्रन्यास हो सकता है । अशिदनेकाल् इसका अलोन्त्यस्य इस सूत्र में भी अनुवर्त्तन किया जा सकता है । किन्तु "अलोन्त्यस्याशिदने काल्" "ङिच्चे" "आदेः परस्य" ऐसा सूत्रन्यास नहीं हो सकता है क्यों कि "अशिदनेकाल्" इसका "ङिच्च" इस में सम्बन्ध नहीं होगा । और आदेः परस्य इसमें भी सम्बन्ध के नहीं होने की आपत्ति लग जायगी । अगर मण्डूक प्लुति से अनुवृत्ति करके सम्बन्ध कर लेंगे तो क्लिष्ट कल्पना करनी पड़ेगी । तथापि इस तरह के सूत्रों के निर्माण करने में विप्रतिषेध जिसमें हेतु है उस सर्वादेशत्व का उपपादन करना कठिन हो जायगा । अगर कहें कि ज्ञापकान्तर से उसका उपपादन किया जा सकता है तो चुप रहिए । कोई ज्ञापकान्तर नहीं है अनेकाल् शित् नहीं है ऐसा निषेध तो अथवा अनन्तर की विधि हो इस नियम से "आदेशस्य" इसका होगा न कि अलोन्त्यस्य इसका भी होगा और "ङिच्च" इसका तो अपवाद से व्यवधान है ही । अतः निषेध होता ही है ।

इस प्रकार मनोरमाकुचमर्दन में परिभाषा प्रकरण की आचार्य मधुसूदन शास्त्री की कृति बालक्रीडा हिन्दी टीका समाप्त हुई ।

भाष्यग्रन्थस्याकुलीभावप्रसङ्गात्। तथा च तत्रोक्तं "किमुदाहरणम् ? "इको यणचि" दध्यत्र। नैतदस्ति संख्यातानुदेशेनाप्येतत्सिद्धमिति। न च इक्शब्द-बोध्यसंज्ञाचतुष्टयबोध्यानां क्रमेण यण्शब्दबोध्यसंज्ञाचतुष्टयबोध्या भवन्तीत्येवं परो भाष्यग्रन्थ इति वाच्यम्।

एवमपि प्रकृतसूत्रे यथासंख्यपरिभाषाप्रवृत्तिनिरासपराया "नास्ति यथासंख्यम्" इति भवदुक्तेर्भाष्यविरुद्धताया अपरिहारात्। ऋकारबोध्यस्य लृकारस्य रेफप्रसक्त्या प्रागुक्तस्यार्थस्य दुष्टत्वाच्च। नाप्यातत एवायं पूर्वपक्षगतो भाष्यग्रन्थ इति युक्तं वक्तुम्। शक्यक्रियायां गतावापातत इति गिरो महर्षिवचनेऽत्यन्तमसङ्गतेः।

गतिश्चेत्थं इक्शब्दबोध्येत्वादिजातिचतुष्टयावच्छिन्नानां क्रमेण यण्-शब्दबोध्ययत्वादिजातिचतुष्टयावच्छिन्ना भाष्यन्ते; इति जातिसंख्या

बालक्रीडा

अथ अब अच्सन्धि प्रकरण का आरम्भ करते हैं। इको यणचि। जो तो अक् शब्द से ६६ वर्णों का ग्रहण होता है और यण् शब्द से सात वर्णों का। अतः इन में यथासंख्य नहीं है यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि स्थानेऽन्तरतम् इस सूत्रके भाष्यग्रन्थ के आकुल होने का प्रसङ्ग उपस्थित हो जायगा। जैसा कि वहां कहा है क्या उदाहरण है? "इकोयणचि" का दध्यत्र यह उदाहरण है। इस पर कहते हैं कि यह नहीं है। यह तो संख्या के क्रम से कहे हुए के अनुदेश से अन्वय से भी सिद्ध है। यह ठीक नहीं है कि इक् शब्द से बोध्य जो संज्ञा इक्प्रत्याहार संज्ञा उससे बोध्य जो चार वर्ण इ उ ऋ एवं लृ इनके स्थान पर क्रम से यण् शब्द से बोध्य जो यण् प्रत्याहार संज्ञा उससे बोध्य जो चार वर्ण य व र एवं ल ये होते हैं इसको बतलाने वाला भाष्य ग्रन्थ है ऐसा कहना चाहिए। क्यों कि कि इस प्रकार से भी प्रकृत सूत्र में यथासंख्य परिभाषा की प्रवृत्ति के निरास में तत्पर आपकी—"यथासंख्य नहीं है" इस उक्ति के साथ भाष्य की उक्ति का जो विरोध होगा उसका परिहार नहीं हो सकेगा। इसके सिवाय ऋकार के स्थान पर रेफ की प्रसक्ति हो जाने से पहले कहा हुआ अर्थ भी दुष्ट हो जायगा यह भी कहना युक्ति संगत नहीं है कि यह पूर्वपक्ष का भाष्यग्रन्थ आपातत आ गया है गति हो सकती है रास्ता निकलता है माने परिहार जहां हो सकता है वहां महर्षि के वचन में आपाततः कहना तुम्हारा अत्यन्त असङ्गत है।

यथा—गति क्या हो सकती है। उत्तर। गति इस प्रकार है। इक् शब्द से बोध्य इत्व उत्व ऋत्व एवं लृत्व रूप चार जातियों से अवच्छिन्न विशिष्ट वर्णों को क्रम से यण् शब्द से बोध्य यत्व वत्व रत्व एवं लत्वरूप चार जातियों से

मादाय संख्यातानुदेशो भाष्यकृताप्रमिप्रेतः। निरूढलक्षणाप्येवं सति भवदुक्ता नाङ्गीकर्त्तव्या इति परं लाघवं, "सवर्णेऽण्ग्रहणमपरिभाव्यमाकृतिग्रहणात्" इति "अणुदित्" सूत्रगतं वार्तिकप्यनुगृहीतं भवतीति ग्रन्थच्छायान्वयपरिपुष्टा भवति। एवं जातिपक्षे व्यवस्था।

व्यक्तिपक्षेऽपि शक्यतावच्छेदकसंख्यामादाय यथासंख्यप्रवृत्तिरव्याहता। निरूढलक्षणादिकं तु न वार्यते। इत्थं च स्थान्यादेशानां संख्यातानदेशेन अन्यथासिद्धिमुक्त्वा प्रकृतितोऽन्तरतमनिवृत्तिं दूषयद्भिर्भाष्यकारैः "इको यणचि" इति यणां येऽन्तरतमा इकस्तत्रैव दध्यत्र इत्यादौ यण् स्यात्, न तु कुमार्यर्थमित्यादौ इत्यादिना उक्ता स्थानेन्तरतम परिभाषाप्रवृत्तिः सङ्गच्छते। न चेत्वाद्यवच्छिन्नानां क्रमेण यत्वाद्यवच्छिन्नविधानेप्यननुनासिकानामननुनासिकयण् वारणाय अन्तरतमपरिभाषैवाश्रयणीयेति। तेन ग्रन्थेन पुनः "स्थानेऽन्तरतमः" इत्यस्य प्रवृत्तिरुक्ता अन्यथा यण् विधौ अन्यथा सिद्धिपराहतिकृतस्यात्य पुनरग्रिमग्रन्थे तत्र प्रवृत्तिरकथनीयैव स्यादिति वाच्यम्। एवमपि स्थानिगतेत्वादिचतुष्टयस्य आदेशगतयत्वादिगतिचतुष्टयसंख्यासम्या

बालक्रीडा

अवच्छिन्न विशिष्ट वर्ण होते हैं इस तरह जातिगत संख्या को लेकर यथा संख्य से अन्वय करना भाष्यकार को इष्ट है। ऐसा कहने पर तुम्हारी कही हुई निरूढ लक्षणा को भी नहीं मानना पड़ेगा। अतः यह और भी लाघव हो गया। सवर्ण के विषय में अण्ग्रहण को नहीं कहना चाहिए क्यों कि आकृति ग्रहण से कार्य बन जायगा यह अणुदित् सूत्रगत वार्तिक भी संगत हो जायगा। इस तरह ग्रन्थ के अक्षरों का अन्वय परिपुष्ट हो जायगा। यह जाति के पक्ष में व्यवस्था है।

व्यक्ति पक्ष में भी शक्यतावच्छेदक की संख्या के लेने से यथासंख्यप्रवृत्ति का व्याघात नहीं होता है। इस पक्ष में निरूढा लक्षणा का वारण नहीं करते हैं। इस प्रकार स्थानी और आदेशों की संख्या के अनुदेश से अर्थात यथासंख्य से अन्वय सिद्धि को कहकर प्रकृतितः स्वभावतः अन्तरतम की निवृत्ति को दूषित करने वाले भाष्यकार के द्वारा इको यणचि इसमें यणों के जो अन्तरतम इक् है इन दध्यत्र मध्वत्र इत्यादि में ही यण् होगा न कि कुमार्यम् इत्यादि में होगा इत्यादि रूप से कही हुई स्थानेऽन्तरतम परिभाषा की प्रवृत्ति भी संगत हो जयगी। यह ठीक नहीं है कि इत्यादि से अवच्छिन्नों विशिष्टों के स्थान में क्रम से यत्वादि से अवच्छिन्नों के विधान करने पर भी अनुनासिकों को अननुनासिक यण्

मादाय परत्वादन्तरतमपरिभाषाबाधेन प्रवर्त्तमानाया "यथासंख्यम्" इति परिभाषायाः प्रकृते तया गतार्थत्वेऽपि दुष्परिहारत्वात्। इह यथासंख्यपरिभाषाया विषय एव नास्तीत्यमुमर्थं समर्थयितुं त्वदुपपादितस्य संख्यासाम्यवैकल्यस्य वैयर्थ्याच्च। अनुनासिकाननुनासिकव्यवस्थायां तु यथासंख्यपरिभाषाया व्यापारस्य विरहात् तदंशेऽन्तरतमपरिभाषायाः प्रवृत्तिः परैरपि न वार्यते। अयमेव 'इको यणचि इत्यत्र' "यथासंख्यम्" इति परिभाषायाः प्रवृत्तिमाचक्षाणानां प्राचीनप्रक्रियाकृतां तद्व्याख्यातॄणाञ्चाशयः।

"न पदान्तद्विर्वचन।" यत्तु न च इष्ठवदित्यादिष्टेन णिचि भत्वेन पदत्वबाधः, णिचो लुप्तत्वात्। न च प्रत्ययलक्षणं वर्णाश्रयत्वात्" इत्युक्तम्, तत्र चिन्त्यते किमत्र वर्णाश्रयत्वम्, न तावदिष्ठवदित्यतिदेशः, तस्य णि-

बालक्रीडा

के वारण करने के लिए अन्तरतम परिभाषा का ही आश्रयण करना पड़ेगा इस ग्रन्थ से फिर स्थानेऽन्तरतम इसकी प्रवृत्ति को कही। अन्यथा ऐसा नहीं मानेंगे तो यण् विधि में अन्यथा सिद्धि की पराहृति करने से स्थानेऽन्तरतम इसकी फिर अग्रिम ग्रन्थ में प्रवृत्ति नहीं कहनी पड़ेगी ऐसा कहना चाहिए। क्योंकि इस प्रकार भी इत्वादि स्थानी भी चार है और यत्वादि आदेश भी चार हैं अतः जातियों में रहनेवाली संख्या के साम्य को लेकर पर होने से अन्तरतम परिभाषा को बाधकर प्रवृत्त होनेवाली यथासांख्य परिभाषा प्रकृत में उससे गतार्थ होनेपर भी परिहार होना कठिन है। इसके सिवाय यहाँ यथासंख्य परिभाषा का विषय ही नहीं है इस अर्थ के समर्थन करने के लिए तुमने जिस संख्या साम्यके वैकल्य का उपपादन किया है वह भी व्यर्थ हो गया। अनुनासिक और अननुनासिक की व्यवस्था में तो यथासंख्य परिभाषा के व्यापार का विरह है अतः उस अंश में अन्तरतम परिभाषा की प्रवृत्ति का वारण दूसरे लोग भी नहीं करते हैं। यही इको यणचि इसमें यथासंख्य परिभाषा की प्रवृत्ति को कहनेवाले प्राचीन प्रक्रियाकारों का और उनके व्याख्याताओं का आशय है।

"न पदान्तद्विर्वचन"। जो तो "इष्ठवत्" इससे णिच् प्रत्यय स्थल में अतिदिष्ट भ संज्ञा से पद संज्ञाका बाध हो जाता है ऐसा कहा वह ठीक नहीं है क्योंकि णिच् का लोप हो गया है किन्तु प्रत्यय का लोप होने पर प्रत्ययलक्षण प्रत्ययनिमित्तक कार्य होता है इस न्याय से णिच् निमित्तक कार्य होगा। ऐसा नहीं कह सकते हैं क्योंकि यह विधि वर्ण के आश्रय होती है अतः वर्णाश्रय होने से तन्निमित्त कार्य नहीं होता ऐसा आपने कहा है। वहां चिन्तन करते

मात्राश्रयत्वेन वर्णाश्रयताया विरहात् । भसंज्ञा शास्त्रभ् । तस्य अतिदेशलभ्यत्वेन निमित्तविरहेऽपि क्षतिविरहात् । नापि यदंशवैकल्य प्रयुक्तः प्राप्तिविरहस्तदंशेऽतिदेशव्यापारो न त्वंशान्तरेऽपि इति वाच्यम् । एवमपि मुख्यतया वर्णाश्रितत्वविरहेण "वर्णाश्रये प्रत्यय लक्षणं नास्ति" इति निषेधस्य तत्राप्रवृत्तेः । प्रवृत्तिस्तु तस्य सुयशा इत्यादौ "वा शरि" इत्यादौ कर्त्तव्ये; अन्यथा अतृणेडित्यत्र इमागमो न स्यात् । विशेषणतया अलाश्रये विधौ स्थानिवद्भावस्यानभ्युपगमात् । प्रत्ययलक्षणसूत्रं सार्थकमिति वार्तिककारैः स्वीकारात् ।

अथ "तृणह इम्" विधौ हल् ग्रहणानुवृत्तिमङ्गीकुर्वतां सुदृषदित्यादौ "सोर्मनसि अलोमोषसी" इति स्वरस्य "अत्वसन्तस्य" इति दीर्घस्य च निरासार्थं प्रत्यलोपे प्रत्ययरूपाश्रयणं न भवति न तु प्रत्ययाप्रत्ययसाधारणरूपपुरस्कारेग क्रियमाणं कार्यमिति नियमविधिमाश्रयतां भाष्यकृतामेतत्सूत्रविषये स्थानिवद्भावेन गतार्थतां मन्यमानानां मतमाश्रित्येदमुच्यते वर्णाश्रयत्वादिति-

बालक्रीडा

हैं कि यह वर्णाश्रय कार्य क्या है । अगर कहें कि इष्ठवत् यह अतिदेश वर्णाश्रय है तब भी ठीक नहीं । क्योंकि वह केवल णि के आश्रय से होता है । अतः वह वर्णाश्रय नहीं है अर्थात् उसमें वर्णाश्रयता का विरह है अभाव है । यह भी नहीं कहना चाहिए कि भ संज्ञा विधायक शास्त्र पदसंज्ञा का बाधक है वह तो अतिदेश से लभ्य हैं अतः निमित्त के नहीं होने पर भी कोई क्षति नहीं है कि जिस अंश की विकलता के कारण प्राप्ति का अभाव है उस अंश में अतिदेश होता है न कि अंशान्तर में भी होता है । इस तरह भी यहाँ मुख्य रूप से वर्णाश्रय के विरह के कारण "वर्णाश्रय में प्रत्यय लक्षण नहीं होता है" वहां इस निषेध की प्रवृत्ति नहीं होगी । उसकी प्रवृत्ति तो जहाँ "सुयशा" इत्यादि में वाशरि इत्यादि में कर्त्तव्य होता है । अन्यथा अतृणेट् इत्यादि में इम् का आगम नहीं होगा । विशेषण हो जाने से अलाश्रय विभि में स्थानिवद्भाव को नही माना है अतः प्रत्यय लक्षण सूत्र सार्थक है ऐसा वार्तिक कार ने स्वीकार किया है ।

अथ और भी कथा है कि तृणह इम् इस इम् विधिशास्त्र में हल् ग्रहण की आवृत्ति को नहीं मानने वालों के मत में "सुदृषद्" इत्यादि में "सोर्मनसी अलोमोषही" इस सूत्र से क्रियमाण आद्युदात्तस्वर के और "अत्वसन्तस्य" इस सूत्र से विधीयमान दीर्घ को निरस्त करने के लिए प्रत्यय का लोप हो जाने पर भी प्रत्यय का आश्रयण किया

चेन्मैवम्। एवमपि "अचः परस्मिन्" इति णिलोपस्य स्थानिवत्वाण्णिचि कथं नाम शक्यते भत्वं वारयितुं कर्मसाधनपक्षे, अन्यथा पटुः कृतः पटितः लघुः कृतो लघित इत्यादौ टघयोर्जश्त्वं दुर्वारं स्यात्। त्वदुक्तरीत्या भत्वाभावेन अन्तर्वर्तिविभक्त्या पदत्वात्। न च भावसाधनपक्षे षडिक इव टिलोपादावपि भसंज्ञायाः पदविधिस्तत्र णिचः स्थानिवत्वस्य दुर्लभतया कथं नाम सा शक्यते सम्पादयितुम्। अतो जश्त्वनिवृत्यै समाध्यन्तरमेवास्थेयमिति वाच्यम्। भाविनोऽपवादस्य विषये उत्सर्गस्याप्रवृत्तेस्तत्राङ्गीकृततया तथैव प्रकृतेऽपि पदसंज्ञायायाः सुवारणीयत्वात्। षडिके तु डकारानुरोधेन विषयभेदस्यैव वाच्यत्वात्। अथ टघयोर्न पदत्वाभावेन वारणम्, अपि तु टिलोपस्य स्थानिवत्वेन जश्त्वारूढपदत्वस्य पूर्वविधित्वाद पदान्तविधित्वाच्च इति चेत्तर्हि एवमेव वृक्षवित्यत्रापि निमित्तीभूतायां वकारगतपदान्ततायामपि सुवचत्वेन कर्मसाधनविधिशब्दाश्रयणेऽपि भवदुक्तदोषस्यासङ्गत्यापत्तेः।

बालक्रीडा

जाता है ऐसा प्रत्ययाश्रयण नहीं होता है और न प्रत्यय एवं अप्रत्यय साधारण रूप का आश्रयण करके किया जाने वाला कार्य होता है इस नियम विधि का आश्रय करनेवाले इस सूत्र को स्थानिवद्भाव से गतार्थ माननेवाले भाष्यकार के मत का आश्रयण करके अगर जो वर्णाश्रयत्वात् इसको कहते हैं वह ठीक नहीं है। क्योंकि इस प्रकार भी कर्म साधन पक्ष में "अचः परस्मिन्" इससे णि लोप में स्थानिवद्भाव मान लेने से णिच् में कैसे भ संज्ञा का वारण कर सकते हैं। अन्यथा ऐसा नहीं मानने पर पटुः कृतः इस विग्रह में बनने वाले पटितः प्रयोग में टकार को और लघुः कृतः इस विग्रह में बननेवाले लघितः के घकार को जश्त्व हो जायगा यानी टकार को डकार और घकार को गकार हो जायगा कौन रोकेगा। अगर कहे कि जहां भावसाधत पक्ष में षडिक में जैसे टि के लोप होने में भसंज्ञा को पदविधि मान लेते हैं वहाँ णिच् को स्थानिवद्भाव होना दुर्लभ है अतः कैसे भसंज्ञा का सम्पादन किया जा सकता है इस लिए पटितः एवं लघितः में जश्त्व की निवृत्ति के लिए कोई दूसरा ही समाधान खोजना पड़ेगा तो ऐसा भी नहीं कह सकते हैं। अपवाद हुआ नहीं है। यदि होगा तब भी उस भावी अपवाद के विषय में उत्सर्ग की प्रवृत्ति नहीं होती है ऐसा जैसे अङ्गीकार किया जाता है वैसेही प्रकृत में पद संज्ञा का भी वारण सुख से किया जा सकता है। हाँ षडिके में तो डकार के अनुरोध से विषय भेद को कहना पड़ेगा। ट और घ के स्थल

यदि तु सिद्धान्तेऽपि पटित इत्यादौ वेतस्वानित्यस्येव दुर्लभा भसंज्ञा स्थानिवद्भावात् सुलभा च पदसंज्ञा भावसाधनपक्षे स्थानिवत्त्व-विधाविति वाक्ष्यते, तदा सुबन्ताद् णिजुत्पत्तिपक्षे पदे अन्तः इति पक्षमवलम्ब्य पदसंज्ञायामपि स्थानिवत्वनिषेधनिरासो विधेयः।

सुध्युपास्यः। यत्तु त्रैपादिकेऽन्तरङ्गे बहिरङ्गपरिभाषा न प्रवर्तते। इत्युक्तं तदयुक्तं, नाकुटः नार्पत्यं इत्यत्र विसर्गवारणाय वृद्धेरसिद्धत्वस्य तत्रैव भाष्ये स्पष्टत्वात्। संयोगान्तलोपे "यणः प्रतिषेधः" इत्यस्य बहिरङ्गत्वेन प्रत्याख्यातत्वात्। स्वयमपि तथैवानूदितत्वाच्च। तस्मादिह यथोद्देशपक्षो ग्राह्यो बहिरङ्गपरिभाषाया अप्रवृत्तये" इत्याद्युक्तम्।

तदसत्। तथाहि सुध्युपास्य इत्यत्र त्रैपादिकेऽन्तरङ्गे बहिरङ्ग

बालक्रीडा

में पदत्व के नहीं होने से वारण ही नहीं होता है अपितु टिलोप में स्थानिवद्भाव मान लेने से जश्त्वारूढ पदत्व में पूर्वविधित्व भी है अपदान्तविधित्व भी है यदि ऐसा मानते हैं तब इसी तरह वृक्षव् इस में भी निमित्तीभूत वकारगत पदान्तत्व को भी कह सकते हैं इस तरह कर्मप्रधान विधि के आश्रयण करने पर भी आप के कहे हुए दोष के असङ्गत होने की आपत्ति लग जायगी।

अगर चे सिद्धान्त में भी पटित इत्यादि स्थल में वेतस्वान् की तरह भ संज्ञा दुर्लभ है और स्थानिवद्भाव के जरिये पद संज्ञा सुलभ है किन्तु भावसाधन पक्ष में स्थानिवद्भाव का निषेध होता है ऐसे देखते हैं तब सुबन्त से णिच् होता है इस पक्ष में पदे अन्तः पदान्तः इस पक्ष का अवलम्बन करके पद संज्ञा में भी स्थानिवद्भाव के निषेध का निरास किया जा सकता है।

सुध्युपास्य इति। जो तो त्रैपादिक अन्तरङ्ग है उसमें बहिरंग परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती है। ऐसा कहा है वह अयुक्त है क्योंकि नाकुटः नार्पत्यः इसमें विसर्ग के वारण करने के लिए वृद्धि को असिद्ध माना है ऐसा वहीं पर भाष्य में स्पष्ट है। संयोगान्त लोप में "यण् का प्रतिषेध है" इसको बहिरङ्ग मानकर प्रत्याख्यान किया है। तुमने भी स्वयं ऐसा ही अनुवाद किया है इस लिए बहिरङ्ग परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होवे इस लिये यहाँ यथोद्देश पक्ष का ही ग्रहण करना चाहिए। ऐसा कहा है।

वह असत् है। इसे बतलाते हैं तथाहि-सुध्युपास्य इसमें अन्तरंग त्रैपादिक के करने में बहिरङ्गपरिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती है। ऐसा कहनेवाले आपके

परिभाषा न प्रवर्त्तते इत्युक्तवद्भिरेव भवद्गुरुभिः "नश्च" इत्यत्र प्राचीनैरुक्तं धुटः परादित्वस्य प्रयोजनं बहिरङ्गपरिभाषया गतार्थत्वात् प्रत्युक्तमित्युक्तम्। इत्थं च तद्ग्रन्थयोः पूर्वोत्तरयोः विरोधः प्रसक्त इति तत्परिहाराय सच्छिष्येण भवता तदाशयोऽयं वर्णयितुमुचितो यद् यथोद्देशपक्षाश्रयणेन एको ग्रन्थः, अपरश्च कार्यकाल पक्षावलम्बनेनेति। एवमाशयवर्णनेनैव भाष्यादिग्रन्थेषु विरोधाः परिह्रियन्ते। अन्यथा त्वदुक्तदोषाभासेन एको ग्रन्थः, परश्च विसर्जनीयसूत्रगत-भाष्यकैयटयोरपि विरुद्धः। अतः कोऽयंनयो यत् परग्रन्थेषु आशय-कल्पनं गुरुग्रन्थे विरोधोद्भावनमिति। तस्मात् भाष्यग्रन्थ इव गुरुग्रन्थोऽपि रमणीयः।

एत्येधत्यूठ्सु। यत्तु एधयतेरेधत्यपेक्षया प्रकृत्यन्तरत्वेन एधतिग्रहणेन अग्रहणात् मा प्रैदिधदित्यत्र वृद्धेः प्राप्तिरेव नास्ति इत्येचीत्यनुवृत्तमेतेरेव विशेषणमिति धातुवृत्तिकृतां मतं प्रत्याचक्षाणैरुपैधत इत्यत्राव्यापनं नोद्भावितम् तदस्फूर्तिवशात्।

बालक्रीडा

गुरुने "नश्च" इसमें कहा हुआ धुट् के परादित्व का प्रयोजन बहिरङ्ग परि-भाषा से गतार्थ होने पर प्रत्युक्त है ऐसा कहा है। इस प्रकार इन ग्रन्थों में पूर्वापर में विरोध प्रसक्त हो गया इस लिये इसके परिहार के लिए सत् शिष्य आपको उसका ऐसा आशय वर्णन करना उचित है कि इन दोनों में एक ग्रन्थ यथोद्देश पक्ष का आश्रयण करने से संगत है और अपर ग्रन्थ कार्यकालपक्ष के आलम्बन करने से संगत है। इस तरह से आशय के वर्णन करने से ही भाष्यादि ग्रन्थों के विरोध का परिहार हो सकता है अन्यथा ऐसा नहीं करने पर तुम्हारे कहे हुए दोषाभास से एक ग्रन्थ विरुद्ध हो जायगा और दूसरा ग्रन्थ विसर्जनीय सूत्र के भाष्य एवं कैयट के विरुद्ध हो जायगा। अतः कौन यह न्याय है कि पर ग्रन्थों में आशय की कल्पना करके दोष का निराकरण करना और गुरु के ग्रन्थ में विरोध का उद्भावन करना। अतः भाष्य ग्रन्थ की तरह गुरुजी का ग्रन्थ भी रमणीय ही है।

"एत्येधत्यूठ्सु"। जो तो एधयति यह एधति की अपेक्षा से भिन्न ही प्रकृति है अतः एधति के ग्रहण से एधयति का ग्रहण नहीं होता है इसलिए मा प्रैदिधत् इसमें वृद्धि की प्राप्ति ही नहीं है जिससे अनुवृत्ति से प्राप्त हुआ एचि यह एति का ही विशेषण है। इस प्रकार धातुवृत्तिकारके मत का प्रत्याख्यान करते हुए तुमने उपैधते में अव्याप्ति का उद्भावन नहीं किया। मालूम पड़ता है तुमको इसकी स्फूर्ति ही नहीं हुई।

स्वादीरेरिणोः। यत्तु लिङ्गविशिष्टपरिभाषया स्वैरिणी इति निष्फलम्। "स्वैरिणी" "इत्यत्र ङीपः प्राग्भाग मादाय वृद्धिसिद्धेः" इति वर्णितं तद् गुरुग्रन्थाशयानवबोधात्। तथाहि—ईरस्य ज्ञानम् ईरस्य प्रिय इत्यादौ ईरशब्देन कृते समासे पश्चात् स्वस्य ईरज्ञानं स्वस्य ईरप्रिय इति विगृह्य कृते समासे स्वेरज्ञाने स्वेरप्रिये च प्राथमिकसमासपूर्वपदीभूत ईरशब्दे परे वृद्धेर्वारणाय ईरेरिणोरुत्तरपदयोर्वृद्धिरित्यवश्यं वाच्यम्। इत्थञ्च ङीपः प्राग्वर्त्तिन ईरिणोऽनुत्तरपदत्वाद् वृद्धेरप्राप्तौ लिङ्गविशिष्टपरिभाषैव शरणम इति हि तेषामाशयस्तत्र किमुच्यते निष्फलमिति।

ननु "स्वादीरेरिणो" इत्यत्र समासग्रहणस्याभावात् केनोत्तरपदस्याक्षेपः स्यादिति चेत्समासग्रहणस्याभावेऽपि वस्तुतः समास एव वृद्धेरिष्टत्वात् नान्तरीयकतया प्राप्तेनापि समासेनैवास्याक्षेपस्यारोपेणापि वाच्यत्वात्। अन्यथा प्रागुक्तोदाहरणेषु अतिव्याप्तेर्दुर्वारत्वापत्तेः। न च तेषु वृद्धिरिष्टैवेति शक्यं वदितुं स्वाच्छन्द्यात् प्रतीतावेव तस्या दृष्टेः।

बालक्रीडा

स्वादीरेरिणोः। जो तो लिङ्गविशिष्ट परिभाषा से स्वैरिणी यह निष्फल है। क्योंकि स्वैरिणी में ङीप् के पूर्वभाग स्वेर को लेकर वृद्धि होती है ऐसा वर्णन किया है। वह सब गुरुजी के ग्रन्थ के आशय को नहीं समझने से किया है। जैसे बतलाते हैं सुनो। ईरस्य ज्ञानम् ईरस्य प्रियः इत्यादि में ईर शब्द से समास करने के बाद में स्वस्य ईरज्ञानम् स्वस्य ईरप्रियः ऐसा विग्रह करके समास करने पर बने हुए स्वेरज्ञान और स्वेरप्रिय इसमें पहले समास के पूर्वपद ईरशब्द में वृद्धि के वारण करने के लिए ईर और ईरि में उत्तरपद में वृद्धि को अवश्य कहना पड़ेगा। इस प्रकार ङीप् के पूर्ववर्ती ईरि के पूर्वपद नहीं होने से वृद्धि की अप्राप्ति की दशा में लिङ्गविशिष्ट परिभाषा ही शरण है रक्षक है ऐसा जहाँ आशय है वहाँ निष्फल है यह क्या कहते हैं।

प्रश्न—"स्वादीरेरिणोः" इसमें समास ग्रहण के अभाव में किस से उत्तर पद का आक्षेप होगा। अगर ऐसा कहते हैं तब भी समास ग्रहण के अभाव में भी वस्तुतः समास में ही वृद्धि इष्ट है। अतः नान्तरीयक रूप से भी प्राप्त हुए समास से ही आक्षेप का आरोप करके कहना चाहिए। अन्यथा पहले कहे उदाहरणों में अतिव्याप्ति को वारण करना मुश्किल हो जायगा। यह नहीं कह सकते हैं कि उनमें वृद्धि इष्ट ही है। क्योंकि स्वच्छन्दता से प्रतीत होनेपर ही उसको देखा गया है।

नन्वस्य पदविधित्वात् समर्थपरिभाषोपस्थितेर्वारणीयतया प्रागुक्त निरासः स्वशब्देन ईरशब्दस्यान्वितार्थकत्वाभावादिति चेत्, ईरश्च घटश्च ईरघटौ स्वस्येरघटौ स्वैरघटावित्यत्रातिव्याप्तेरनिरासात् ।

प्रादूहोढो । यत्तु ऊढग्रहणेन क्तान्तमेव गृह्यते नतु क्तवत्वन्तस्यैकदेशः" उपस्थितस्यार्थस्य शब्दं प्रति विशेषणताया औचित्यात् । व्रश्चादिसूत्रे राजेः पृथग् भ्राजेः ग्रहणेन "अर्थवद् ग्रहणे नानर्थकस्य" इति परिभाषोपस्थिते-र्वारणीयतया प्रशब्दद्योत्यार्थान्वितार्थकोढादिवृद्धेः प्रवृत्तेर्निर्व्यूढायामुत्तरपदा-क्षेपे सति क्तवत्वन्तैकदेश ऊढशब्दे परे वृद्धेः प्रसङ्गस्यैव विरहेण अर्थव-त्परिभाषोपन्यासनिष्फलत्वात्ः

आवश्यकः पुनरयं समर्थपरिभाषया च संस्कृतेऽप्यस्मिन् विधावजह-त्स्वार्थायामुत्तरपदाक्षेपः, अन्यथा ऊढश्च घटश्च ऊढघटौ प्रकृष्टौ ऊढ-घटौ प्रोढघटौ इत्यत्रातिप्रसक्तेः । प्रस्य द्वन्द्वेन सह सामर्थ्ये तदवयवेन-सह सामर्थ्यस्य निष्प्रत्यूहत्वात् । ऊढशब्दस्यार्थवत्वाच्च ।

बालक्रीडा

प्रश्न —यह पद विधि है। अतः समर्थ परिभाषा की उपस्थिति से वारण किये जाने के योग्य है इसीसे प्रागुक्त दोषका निराकरण हो गया। क्योंकि स्वशब्द के साथ ईर शब्द में अन्वितार्थकता नहीं है। अगर ऐसा कहते हैं तब भी ईरश्च घटश्च ईरघटौ स्वस्य ईरघटौ स्वेरघटौ इसमें होनेवाली अतिव्याप्ति का निरास कैसे होगा।

"प्रादूहोढो"। जो तो ऊढ ग्रहण से क्तान्त का ही ग्रहण करते हैं न कि क्तवत्वन्त के एकदेश का ग्रहण करते हैं। अर्थात् क्त प्रत्यय जिसके अन्त में है उसी का ग्रहण होताहै किन्तु क्तवतु का एकदेश क्त जिसके अन्त में है उसका ग्रहण नहीं होता है। शब्द से उपस्थित होनेवाला अर्थ शब्द का विशेषण होता है यही औचित्य प्राप्त है। व्रश्चादि सूत्र में राजि से पृथक् भ्राजि के ग्रहण से अर्थवत् ग्रहण नहीं होता है इस परिभाषा की उपस्थिति के वारणीय होने से प्रशब्दद्योत्य अर्थ से अन्वित है अर्थ जिसका ऐसे ऊढादि में वृद्धि की प्रवृत्ति के निर्वाह में उत्तरपद के आक्षेप होने पर क्तवत्वन्त के एकदेश ऊढ शब्द के परे रहते वृद्धि का प्रसङ्ग ही नहीं होता है अतः अर्थवत् परिभाषा का उपन्यास निष्फल ही है।

आवश्यक तो यह – समर्थ परिभाषा से संस्कृत इस विधि में अजहत्स्वार्था लक्षणा के होने पर-उत्तर पद का आक्षेप है। अन्यथा ऐसे आक्षेप के बिना ऊढश्च घटश्च ऊढघटौ प्रकृष्टौ ऊढघटौ प्रोढघटौ इसमें अतिव्याप्ति हो जायगी। प्रशब्द का द्वन्द्व

ननु अजहत्स्वार्थायां वृत्तावुत्तरपदाक्षेपस्यावश्यकत्वेऽपि जहत्स्वार्थायामर्थवत्परिभाषयापि शक्यंते प्रयोजनानि साधयितुम्। अतस्तदुपन्यासो नातीव निष्फल इति चेन्न, अजहत्स्वार्थायां तदुपन्यासस्य बाधपराहतत्वात्।

तथाहि—प्रौढ इति समासेनोत्तरपदीभूता ऊढादयः प्रकृतवार्तिके परत्वेन निर्दिष्टा इति हि तावन्निर्विवादम्। एवं जहत्स्वार्थायां पूर्वपदस्येवोत्तरपदस्यापि गलितार्थकतया नास्त्येवार्थवतो ग्रहणमिति अविषय एवायमर्थवत्परिभाषायाः। न च वृत्तेः पूर्वमुपस्थितानामूढादीना मर्थवत्तामादाय तस्याः प्ररोह इति वाच्यम्, ऊढघटावित्यादौ हि पूर्वपदभूतानामूढादीनां तथाविधाया अर्थवत्तायाः सम्भवात्। तस्माज्जहत्स्वार्थायां बाधपराहता समर्थपरिभाषोपस्थितया गतार्था चेयमर्थवत्परिभाषा। अजहत्स्वार्थायान्तु सन्निहितापि प्रौढघटावित्यादावतिप्रसङ्गवारणाय "अर्थवत्" "समर्थ" इति पक्षद्वयेऽपि उत्तरपदाक्षेप एवेति उपन्यासायोग्या।

बालक्रीडा

के साथ सामर्थ्य होने पर उसके अवयव के साथ सामर्थ्य के होने में कोई प्रत्यूह विघ्न नहीं है और ऊढशब्द भी अर्थवान् है।

प्रश्न—अजहत्स्वार्था लक्षणावृत्ति में उत्तरपद का आक्षेप आवश्यक है तब भी जहत्स्वार्था में अर्थवत्परिभाषा के द्वारा भी प्रयोजनों को सिद्ध किया जा सकता है अतः अर्थवत्परिभाषा का उपन्यास अत्यन्त निष्फल नहीं है अगर ऐसा कहते हैं तो वह भी ठीक नहीं है क्योंकि जहत्स्वार्था में उसका उपन्यास बाध से पराहत है।

कैसे पराहत है उसको बतलाते हैं—तथाहि- यहाँ प्रौढः इसमें प्रकृष्ट ऊढः प्रौढः इस समास के करने से ऊढादि शब्द उत्तरपद है अतएव प्रकृत प्रादूहोढोढ्येषु वार्तिक में ऊढादि का परत्वेन निर्देश किया है यह निर्विवाद है। इस प्रकार जहत्स्वार्था में जैसे पूर्वपद गलितार्थक है निरर्थक है उसी प्रकार उत्तर पद भी गलितार्थक है अतः अर्थवत् का ग्रहण होता ही नहीं है इसलिए यह अर्थवत्परिभाषा का विषय नहीं है यह नहीं कहना चाहिए। वृत्ति के पहले यानी समास होने के पूर्व में उपस्थित हुए ऊढादि की अर्थवत्ता को लेकर अर्थवत् परिभाषा का प्ररोह उत्थान होता है। क्योंकि ऊढघटौ इत्यादि में यानि समास से बने हुए ऊढघटादि में पूर्वपद ऊढादि तथाविध माने समास होने से पहलेवाली अर्थवत्ता का होना तो सम्भव है। इस लिए यह अर्थवत्परिभाषा जहत्स्वार्था में यद्यपि सन्निहित है तब भी प्रौढघटौ इत्यादि में अतिव्याप्ति के

अथ यदि दीक्षितकृतोऽर्थवत्परिभाषोपन्यासोऽपि सफलीकरणीय इत्याग्रहः, तदित्थं सफलीक्रियताम् सत्युत्तरपदाक्षेपे ऊढ इति यदि कस्यचिन्नाम तदा तस्मिन्नुत्तरपदाक्षेपे प्रौढ इत्यत्रातिप्रसङ्गवारणाय प्रसिद्धयप्रसिद्धिनिबन्धो गौणमुख्यन्यायोऽत्रानुसरणीयः, स चार्थवत्परिभाषाप्रतिसन्धानाधीन इति तदुपन्यासः सफलः ।

उपसर्गादृति धातौ । यत्तु सूत्रेऽस्मिन् उपसर्गेणेति प्रतीकमादाय "यत्क्रियायुक्ता" इत्यादिना मनोरमायामाशायवर्णनं कृतम् । तत्तु "उपसर्गाः क्रियायोगे" इति सामान्यलक्षणेनापि प्रकृतार्थस्य सामञ्जस्ये "यत् क्रियायुक्ता" इति विशेषलक्षणोपन्यासस्यानुपयुक्तत्वादरमणीयमिव भाति । तथापि इत्थं चेद् व्याख्यायते तदा रमणीमेव । तथाहि ननु धातुग्रहणाभावे धातौ उपसर्गेणाक्षिप्तेऽपि प्रभूत ऋद्धो यस्मिन् ग्रामे स प्रर्धग्राम इत्यत्र वृद्धिप्रसङ्गो दुर्वारः । प्रस्य उपसर्गत्वाद् ऋद्धस्य

बालक्रीडा

वारण करने के लिए अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य ग्रहणम् इस पक्ष में और समर्थः पदविधौ इस पक्ष में भी उत्तरपद का आक्षेप होता ही है अतः अर्थवत्परिभाषा उपन्यास के योग्य नहीं है। और यदि दीक्षित का किया हुआ अर्थवत् परिभाषा का उपन्यास सफल करणीय ही है ऐसा आग्रह है तब उसको ऐसे सफल करिये। पहले उत्तरपद का आक्षेप करना चाहिए उसके आक्षेप कर लेने पर अगर ऊढ ऐसा किसी का नाम करते हैं तब वह ऊढ जिसका उत्तरपद है ऐस प्रौढ इसमें वृद्धि के अतिप्रसङ्ग के वारण करने के लिए प्रसिद्धि एवं अप्रसिद्धि जिस में निबन्धन है कारण है ऐसे गौणमुख्यन्याय का अनुसरण करना चाहिए। वह अनुसरण अर्थवत्परिभाषा के प्रतिसन्धान के अधीन है इसलिए अर्थवत्परिभाषा का उपन्यास सफल है। यह पण्डितराज का पागलपन है जो गुरुद्रोही अतः महापापी का समर्थन कर रहे हैं।

उपसर्गादृति धातौ। यहाँ उपसर्गात् प्रतीक को ले सकते हैं उपसर्गेण प्रतीक को कैसे लेंगे अतः गडबड है। जो तो इस सूत्र में उपसर्गेण इस प्रतीक को लेकर प्रादि जिस क्रिया से युक्त होंगे उसी क्रिया के प्रति उनकी गति एवं उपसर्ग सज्ञाएँ होंगी इस तरह से जो मनोरमा मे आशय का वर्णन किया है वह (उपसर्गाः क्रियायोगे) क्रिया के योग में उपसर्गसंज्ञा होती है इस सामान्य लक्षण से भी प्रकृत अर्थ का सामञ्जस्य हो सकता है अतः यत्क्रियायुक्ता इस विशेष लक्षण का उपन्यास करना अनुपयुक्त होने से अरमणीय जैसा मालूम पड़ता है। तब भी अगर उसकी व्याख्या इस प्रकार कर दी जाय तो रमणीय

ऋकारादिधातुप्रभवत्वाच्च। अतश्चैवंविधधातुनिवृत्तिद्वारा प्रकृतोपसर्गगतोपसर्गताप्रयोजकधातुविशेषलाभार्थं धातुग्रहणं भविष्यतीति कथं योगविभागार्थमुच्यते इत्यत आह—"यत् क्रियायुक्ता" इत्यादि। तथा च उपसर्गसंज्ञयैव एतादृशधातुनिवारणं धातुविशेषलाभश्च भविष्यति इति धातुग्रहणं योगविभागार्थमेवेति हृदयम्।

निपात एकजानाङ। यत्तु "पर्युदासादेवाज्रूपनिपाते लब्धे निपात ग्रहणमुत्तरार्थम्" इति वदन्ति, तन्न। अनाङित्यस्य "पर्युदासत्वे प्रतिषेधार्थोऽयमारम्भ इत्येतत्सूत्रगतभाष्यासङ्गतेः। न च सोऽभ्युच्चयवादः, कथम-

बालक्रीडा

ही होगी। जैसे-उपसर्गादृति धातौ इस सूत्र में धातु के ग्रहण नही करने पर भी उपसर्ग से भी धातु का आक्षेप हो सकता है क्योंकि उपसर्ग धातु के ही साथ प्रयुक्त होता है बिना धातु के उपसर्ग का प्रयोग नही होता है। अतः प्रभूत ऋद्ध है जिस ग्राम में वह प्रर्ध ग्राम है। यहाँ प्रर्ध में वृद्धि के प्रसङ्ग को रोकना मुश्किल है। क्योंकि प्र उपसर्ग है और ऋद्ध का ऋकारादि धातु से प्रभव है उत्पादन है। अतः वृद्धि होना आवश्यक है।

यह सब पण्डितराज का गडवड लेख है। क्योंकि प्रकृष्टः ऋद्धः प्रर्द्धः में जैसे प्र में कृष् धातु के प्रति उपसर्गत्व है ऋद्धः के प्रति उपसर्गत्व नहीं है अतः वृद्धि नही प्राप्त है उसी तरह प्रभूतः ऋद्धः प्रर्धः में भी भू धातु के ही प्रति प्रमें उपसर्गत्व है न कि ऋध् धातु के प्रति प्रमें उवसर्गत्व है जब उपसर्गत्व नहीं है तब वृद्धि का कैसे प्रसङ्ग हो सकता है। अतः गडबड लेख है।

अतः इस प्रकार के धातु की निवृत्ति के द्वारा जब प्रकृत उपसर्ग में रहने वाले उपसर्गत्व के प्रयोजक धातु विशेष के लाभ के लिए धातु ग्रहण करना आवश्यक होगा तब योग विभाग के लिए धातु का ग्रहण करते हैं ऐसा कैसे कहते हैं। इस पर कहते हैं यत् क्रियायुक्ता इत्यादि। इस प्रकार उपसर्ग संज्ञा से ही ऐसी धातुओं का निवारण और धातु विशेष का लाभ हो जायगा तब धातु ग्रहण क्यों किया। धातु ग्रहण करना व्यर्थ है। वह व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि धातु ग्रहण योगविभाग के लिए किया है यह हृदय है यानी यहाँ का रहस्य है।

निपात एकाजनाङ्। जो तो पर्युदास से ही अच्रूपनिपात मिल जाता है अतः निपात का ग्रहण उत्तर के लिए है। ऐसा जो कहा है वह ठीक नहीं है। क्योंकि अनाङ् इसका पर्युदास मानने पर प्रतिषेध के लिए यह आरम्भ

न्यथा अदोऽभवत् इत्यादौ अतिप्रसङ्गमाशंक्य प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणमिति समाधानं ब्रूयादिति वाच्यम् । लाक्षणिकत्वेऽपि पाठसामर्थ्यात् प्रतिपदोक्त-शङ्काया अक्षतेः । अतएव अहो इत्यादीनां सखण्डत्वेऽपि एकत्वबुद्धौ तद्-व्यवधाने आम् अहो देवदत्त इत्यत्र आम एकान्तरम् इति निघातप्रति-षेध सङ्गच्छते । अपि च कौस्तुभे वार्णे विधौ लक्षणप्रतिपदोक्तपरिभाषायाः अप्रवृत्तेरुक्ततया प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणमिति भाष्यग्रन्थस्यापि प्रौढिवा-दत्वमुक्तप्रायम् । इत्थं प्रौढिवादस्वरसेन ग्रन्थान्तरस्य प्रौढिवादम-श्रुतपूर्वमेव ।

अथ च प्रसज्यप्रतिषेधाश्रयणस्य वाक्यभेदासमर्थसमासाश्रयणरूप-दोषदूषितत्वं प्रौढिवादताबीजमिति चेत् ? अनचि अशिति अकिति इत्यादौ प्रतिषेधाश्रयणस्यैव सर्वसम्मतत्वात् कार्यार्थं तत्र तदिति चेत्—इहापि तस्य कार्यार्थत्वात् । तथाहि आ आत् अम् अमीत एते इत्यत्र आशब्द-स्य स्वाभाविकमाङ्भिन्नत्वं स्थानिवद्भावकृतनिपातत्वञ्चाश्रित्य

बालक्रीडा

है ऐसे इस सूत्र के भाष्य की संगति नहीं होगी । अजी यह अभ्युच्चय वाद है प्रौढ़िवाद है । अन्यथा अदोऽभवत्-इत्यादि में अतिप्रसक्ति की आशंका करके प्रतिपदोक्त का ही ग्रहण होता है ऐसा समाधान कैसे कहते ऐसा नही कहना चाहिए । क्योंकि लाक्षणिक मान लेने पर भी पाठ करने के सामर्थ्य से प्रति-पदोक्त शङ्का अक्षत है यानी शङ्का का समाधान नहीं है । अतएव अहो इत्यादि की सखण्डता होने पर भी एकत्व बुद्धि होने से उसके व्यवधान में आम् अहो देवदत्त इसमें आम एकान्तरम् इसके द्वारा किए गये निघात का प्रतिषेध संगत होता है । और भी बात हैं कौस्तुभ में वर्णप्रयुक्त विधि में लक्षणप्रतिपदोक्त परिभाषा की प्रवृत्ति नही होती है ऐसा कहने से प्रतिपदोक्त का ही ग्रहण होता है इस भाष्य ग्रन्थ को भी प्रौढिवाद कहा गया है । इस तरह प्रौढिवाद के स्वरस से ग्रन्थान्तर को भी प्रौढिवाद कहना पहले कभी सुना नहीं गया है ।

और भी है प्रसज्यप्रतिषेध का आश्रयण करना वाक्यभेद प्रयुक्त असमर्थ-समासाश्रयणरूप दोष से दूषित है अतः यह दूषित होना प्रौढिवाद का बीज हैं । अगर ऐसा कहते हैं तो अनचि अशिति और अकिति इत्यादि में प्रतिषेध का आश्रयण ही सर्वसम्मत है । अगर कहें कि वहाँ वह किसी कार्य के लिए है तब यहाँ भी वह किसी कार्य के लिए है । वह कार्य क्या है उसे बतलाते हैं तथाहि सुनिये । आ आत् अम् अमीत एत इसमें आशब्द का आङ् से भिन्न होना

प्राप्तायाः प्रगृह्यसंज्ञायाः प्रसज्यप्रतिषेधाश्रयणं विना दुर्वारत्वात्। न चाशब्दस्य स्थानिवद्भावेन सत्याङ्त्वे आङ्भिन्नत्वव्यपदेशनिवृत्तिरुचितेति वाच्यम्। गुरुवत् गुरुपुत्रे वर्तितव्यम् इत्यतिदेशेन गुरुत्वस्येव आङ्त्वाभावेन आङ्त्वस्यानतिदेशात्। अतिदेशे वा अङिति आङ्बुद्धेराङ्भिन्नोऽयमिति बुद्ध्यविरोधितत्वात्। अतएव तद्वदतिदेशेऽकिद्विधिप्रसङ्ग इति गाङ्कुटादि'' सूत्रगत भाष्यं संगच्छते। अन्यथा कित्वे सति किद्भित्वप्रयुक्तविरोध्यापादनासङ्गतेरसङ्गतं स्यात्। णलादिष्वपित्वनिबन्धन कित्वापादनं तु तत्रापि प्रसज्यप्रतिषेधाश्रयणेनैव परिहरणीयम्। अस्तु वा एकादेशेऽपि स्थानिवद्भावेनैव परसवर्णगताङ्भिन्नत्वस्याश्रयणं कैयट कौस्तुभयोरपि परादिवद्भावेन एकादेशस्याङ्भिन्नत्वाश्रयणात्।

बालक्रीडा

स्वाभाविक है। इस स्वाभाविकता का और स्थानिवद्भाव से कृत निपातत्व का आश्रयण करके प्राप्त होनेवाली प्रगृह्य संज्ञा का वारण करना प्रसज्यप्रतिषेध के विना मुश्किल है। यह नहीं कहना चाहिए कि आशब्द को स्थानिवद्भाव से आङ् मान लेने पर आङ् से भिन्न कहना उचित नहीं है अपि तु आङ् भिन्नत्वव्यपदेश की निवृत्ति करना ही उचित है। क्योंकि गुरु की तरह गुरुपुत्र में व्यवहार करना चाहिए इस अतिदेश से गुरुत्व की तरह आङ्त्व के होने पर आङ् के अभाव का अतिदेश आमें नहीं होता है। अथवा अतिदेश होने पर अङिति माने ङिद् भिन्न में आङ् बुद्धि के कारण यह आङ् से भिन्न है इस बुद्धि का विरोध नहीं है। अत एव तद्वत् अतिदेश में किद् भिन्न विधि का प्रसङ्ग है ऐसा "गाङ् कुटादि" सूत्र का भाष्य भी सङ्गत होता है। अन्यथा कित्व के होने पर किद्भिन्न त्व प्रयुक्त विरोधी के आपादन की असंगति से भाष्य असंगत हो जायगा। णलादिस्थल में भी अपित्व माने पिद्भिन्नत्व के कारण किये जाने वाले अकित्व का आपादन है वहाँ तो प्रसज्यप्रतिषेध के आश्रयण से ही परिहरणीय है। अथवा मान लेते हैं कि एकादेश में भी स्थानिवद्भाव के बल से परसवर्ण स्थल में आङ् भेद का आश्रयण है। क्योंकि कैयट और कौस्तुभ में भी परादिवद्भाव के बदौलत एकादेश में आङ् के भेद का आश्रयण किया है। अतः शास्त्रीय कार्यातिदेश में लौकिक आङ् भिन्नत्व का अतिदेश कैसे आश्रयणीय होगा। क्योंकि न धातुलोप इस सूत्र से लोलुव यहाँ पर उवङ् में स्थानिवद्भाव से किये गये यङकार की अपेक्षा पूर्वत्व का नवीनों ने आश्रयण किया है। अचः परस्मिन् इस सूत्र में स्यवीयान् यहाँ पर गुण का स्थानिवद्भाव के द्वारा अनादिष्ट अच् पूर्वत्व का अभिधान कैयट ने भी किया

अतश्च शास्त्रीयकार्यातिदेशे लौकिकस्याङ्‌भिन्नत्वस्य कथमतिदेश आश्रयणीयः, "न धातुलोपः" इति सूत्रे लोलुव इत्यत्रोवङ्‌स्थानिवद्भावकृतस्य यङ्कारापेक्षया पूर्वत्वस्य नत्रोनैराश्रयणात्। "अचः परस्मिन्" सूत्रे स्थवीयान् इत्यत्र गुणस्य स्थानिवद्भावानादिष्टादचः पूर्वत्वस्य कैयटेनाभिधानाच्च। अविशेषणद्वारकं शास्त्रीयत्वं तु प्रकृतेऽपि तुल्यम्। न च परिभाषाश्रयणेनैव निपातत्वे लब्धे पुनर्निपातग्रहणं निपात एव निपात्त इत्यर्थलाभार्थम्। तेन स्थानिवद्भावलब्धस्वाभाविकं निपातत्वमनुभवत एव अनेन संज्ञा विधीयते। इति नैत इत्यत्राकारस्य प्रगृह्यप्रसङ्ग इति वाच्यम्। स्पष्टार्थमिहैव कृतमिति प्रकृतग्रन्थस्यासम्बद्धतापत्तेः। 'जानु अ अस्य रुजति, इत्यत्र सवर्ण–दीर्घस्य प्रगृह्यतानापत्तेश्च।" ओत्, सूत्रगतभाष्यकैयटकौस्तुभविरोधाच्च। इत्थञ्च "ओत्" सूत्रगतकौस्तुभग्रन्थः सर्वोऽप्यसङ्गत इति ध्येयम्। अधिकन्तु कौस्तुभखण्डनादवसेयम्।

ईदूतौ च सप्तम्यर्थे। यत्तु अस्य सूत्रस्य सप्म्यन्तवातप्रमीशब्दादिरप्युदाहरणमिति कौस्तुभे निर्णीतम्—तन्न—सप्तम्यन्तवातप्रम्यादिशब्दानां प्रयोगस्य दुर्लभत्वात्। न च शब्दानां लक्षणानुसारिणां कथं प्रयोगदुर्लभ-

बालक्रीडा

है। विशेषण को द्वार नहीं बनाने का जो शास्त्रीयकार्यातिदेश है वह तो प्रकृत में भी तुल्य है। यहां यह नहीं कहना चाहिए कि परिभाषा के आश्रयण करने से ही निपातत्व मिल जाता है तब भी जो निपात ग्रहण किया है उसका मतलब है निपात निपात ही है ऐसे अर्थ का लाभ। इससे स्थानिवद्भाव से मिले हुए स्वाभाविक निपातत्व का अनुभव करनेवाले को ही इससे निपात संज्ञा का विधान होता है इसलिए एत इसमें अकार की प्रगृह्य संज्ञा का प्रसंग नहीं है। क्योंकि इसी सूत्र के व्याख्यान में जो कह दिया है कि यह निपात ग्रहण स्पष्टार्थ है। इस प्रकृत ग्रन्थ की असम्बद्धता की आपत्ति हो जायगी। और "जानु अ अस्य रुजति" इसमें सवर्णदीर्घ को प्रगृह्यसंज्ञा के कारण अनापत्ति हो जायगी। आगे के सूत्र के भाष्य कैयट एवं कौस्तुभ का विरोध हो जायगा। इस प्रकार "ओत्" सूत्र का सर्वा कौस्तुभ ग्रन्थ असंगत हो जायगा इस पर ध्यान देना चाहिए और अधिक जानना चाहो तो कौस्तुभ के खण्डन से समझो।

ईदूतौ च सप्तम्यर्थे। जो तो सप्तम्यन्त वातप्रमी आदि शब्द भी इस सूत्र के उदाहरण है ऐसा निर्णय किया है वह ठीक नहीं है। क्योंकि सप्तम्यन्त वातप्रमी आदि शब्दों का प्रयोग मिलना कठिन है। यह नहीं कहना कि लक्षण के

तेति वाच्यम्। सति हि प्रयोगे द्वन्द्वरूपसप्तम्यभावप्रतिपादकवशात् 'तत्रापि सरसी यदि" इति वार्तिकग्रन्थस्य विरुद्धत्वापत्तेः। न चास्ति "ईदूतौ सप्तमी" इति भाष्यग्रन्थस्य विरुद्धापत्तेश्च। न च वचनस्य निरवकाशता प्रयुक्तसामर्थ्यमात्रे भाष्यवार्तिककृतोस्तात्पर्यं न तु ईद्रूपसप्तम्या अभावे, निरवकाशता तु वचनस्य ईदंशे गलितापि ऊदंशे विधावसति विवक्षितार्थ सिद्धये स्यादेवेति वाच्यम्। एवमपि ईदंशनिरवकाशतां स्फुट प्रतिपादयतोर्मुनि द्वयवचनयोरशुद्धयापत्तेस्तादवस्थ्यात्। नापि ऊदंशनिरवकाशताप्रतिपादन परता ग्रन्थस्यास्य जात्वपि सम्भवति। ईकाररूपसप्तमीपरसरश्शब्दोद्भावनस्य ङीषन्तसरसीशब्दव्यवस्थापनस्य चासङ्गत्यापत्तेः।

न च तद् ग्रन्थस्यार्थवादवत् न स्वार्थे तात्पर्यम्। अपि तु यथाकथंचिन्निरवकाश इति शंक्यम्। "संस्थानत्वं नमः रुयात्रे" इत्यस्यापि न स्वार्थे तात्पर्यम् अपि तु खशाञ्ञ्करणावश्यकत्व इत्यस्यापि सुवचत्वेन ख्याधातोरार्धधातुकविवक्षायामसाधुत्वस्य त्वदुदीरितस्यासिद्धिप्रसङ्गात्। न च भवन्मतेऽपि

बालक्रीडा

माने सूत्र वर्तिक एवं भाष्य के अनुसार बननेवाले शब्दों के प्रयोग दुर्लभ कैसे हो सकते हैं। क्योंकि प्रयोग होनेपर भी वार्तिक ग्रन्थ के विरुद्धता की आपत्ति यानी द्वन्द्वयुक्त सप्तम्यन्त अर्थात् ईच्च ऊच्च ईदूतौ यह द्वन्द्व है और सप्तम्यर्थ में लुप्तविभक्तिक सप्तमी है अतः ईदन्त और ऊदन्त जो सप्तम्यन्त उसके अभाव के प्रतिपादक शब्द के वश से "तत्रापि सरसी यदि" इस वार्तिक ग्रन्थ के विरुद्धता की आपत्ति लग जायगी और न चास्ति "इदतौ सप्तमी" इस भाष्य के विरुद्धता की भी आपत्ति लग जायगी।

वचन के निरवकाशताप्रयुक्त सामर्थ्य में ही केवल भाष्य और वार्तिककार का तात्पर्य है न कि ईद्रूप और ऊद्रूप सप्तमी के अभाव में तात्पर्य है। वचन की निरवकाशता तो यद्यपि ईदंश में गलित है अर्थात् नही है तद्यपि ऊदंश में निरवकाशता विवक्षित अर्थ की सिद्धि के लिए है ही। ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि इस प्रकार भी ईदश की निरवकाशता का स्पष्ट रूप में प्रतिपादन करनेवाले दो मुनियों के वचनों में अशुद्धि होने की आपत्ति लगही जायगी। क्योकि वह तदवस्थही है। ऊदंश के निरवकाशता की प्रतिपादनपरता इस ग्रन्थ में कभी भी सम्भव नहीं है। ऐसा होने पर ईकार रूप सप्तमीपरक सरः शब्द के उद्भावन की और ङीषन्तसरसी शब्द के व्यवस्थापन की असंगति होने की आपत्ति लग जायगी।

ईदंश निरवकाशताकथनस्य नैरर्थक्यं प्रागुक्तदिशा ऊदंशनिरवकाशतोऽपि परस्येष्टसिद्धेरिति वाच्यम् । यदंशे निरवकाशत्वं तदंश एव मुख्यार्थत्याग पूर्वको गौणार्थपरिग्रहः संज्ञाविधिप्रत्ययतदन्तग्रहणनिषेधस्य बाधो वा नांशान्तरस्य इति यदि कश्चिद् ब्रूयात् तं प्रति ईदंशनिरवकाशे तात्पर्यमस्तीति प्रदर्शनं रमणीयमेव । अन्यथा को ह्येव सन्निहितं क्षुरमुपेक्ष्य शकलया माणवकं मुण्डयन्नुपहसनीयो न भवेत् । कश्च वा तप्ते वारिणि उपस्पृश्य समुपलभमानं परं प्रति धूमेनाग्नि साधयेत् । "संस्थानत्वं नमः ख्यात्रे" इति वचनरूपाल्लिङ्गादार्धधातुकविषये ख्याधातोरिव वातप्रम्यादेरपि सप्तम्यां प्रयोगोऽनिष्ट एव इत्यस्मादेव भाष्यवार्तिककृतोर्वचनादवसीयते । कथमन्यथा "ईदूतौ" इति कल्पनारूपाल्लिङ्गात् प्रियाष्टन् शब्दस्य च

बालक्रीडा

अर्थवाद का जैसे स्वार्थ में तात्पर्य नहीं होता है उसी तरह इस ग्रन्थ का भी स्वार्थ में तात्पर्य नहीं है अपितु जैसे तैसे निरवकाशता में तात्पर्य है ऐसी शंका नहीं करना है । क्योंकि ऐसी शंका करने पर तो यह कहना भी सुन्दर होगा कि "सस्थानत्वं नमः ख्यात्रे" इसका भी स्वार्थ में तात्पर्य नहीं है अपितु चक्षिङ् के स्थान पर ख्शाञ् करने में तात्पर्य है । परन्तु ऐसा कहने स ख्या धातु का आर्धधातुक विवक्षा में असाधुत्व है यह तुम्हारा कथन असिद्ध है अशुद्ध है ऐसा प्रसंग आ जायगा । अगर कहें कि आपके मत में भी ईदश की निरवकाशता का कथन निरर्थक है प्रागुक्त दिशा से उदश निरवकाशता भी वैसी होगी तो पर की इष्ट सिद्धि होती है तो ऐसा नहीं कहना चाहिए । क्योंकि जिस अंश में निरवकाशता है उस अंश में ही मुख्यार्थ का त्याग करके गौण अर्थ का परिग्रह होता है अथवा संज्ञा विधि प्रत्यय और प्रत्ययान्त का ग्रहण इनके निषेध का बाध होता है अंशान्तर का बाध नहीं होता है। अगर ऐसा कोई कहे तो उसके प्रति ईदंश के निरवकाश में तात्पर्य है ऐसा प्रदर्शन रमणीय ही है अन्यथा कौन है ऐसा जो पास में पैने छुरे के रहते उसकी उपेक्षा करके शृंखला से बच्चे के शिर का मुण्डन करेगा जिससे वह मुण्डनकारी उपहासास्पद ही होगा । अथवा गरमजल का आचमन करके अग्नि को समझने वाला दूसरे के प्रति धूम से अग्नि को सिद्ध करेगा । उसी तरह संस्थानत्वं नमः ख्यात्रे इस वचनरूप हेतु से आर्धधातुक के विषय में ख्याधातु के प्रयोग की असाधुता की तरह वातप्रमी आदि का भी सप्तमी में प्रयोग अनिष्ट ही है ऐसा इस भाष्य एवं वार्तिककार के वचन से अवसित होता है । अन्यथा "ईदूतौ" इस कल्पनारूप लिङ्ग से प्रियाष्टन् शब्द की प्रसंज्ञा के विषय में

भविषये कृते ष्टुत्वेऽस्य भवता चासाधुत्वमुक्तं संगच्छते। तदित्थं वातप्रम्यादिशब्दानां प्रयोगदौर्लभ्यं निरूपितम्।

एवमपि यदि तेषां प्रयोगयोग्यत्वमस्तीति दुराग्रहस्तथापि एतत्सूत्रोदाहरणत्वमयुक्तं वक्तुम्। सूत्रकारैरनुपसङ्ग्रहात्।

तथाहि-शिष्टशब्दो लुप्तस्यार्थमभिधत्ते, यथा 'व्यतिसेऽहन्" इत्यत्र प्रकृतिप्रत्यययोरिति उद्देश्यदलार्थः सम्पद्यते। तत्र सप्तम्याः लुकि सति या तस्याः प्रकृतिः ईदूद्भ्यां विशेष्यते, न सप्तम्यां वर्त्तमाना इत्यनेन सप्तम्या लोपो गम्यते। न ह्यलुप्ते प्रत्यये प्रत्ययार्थे वर्त्तमाना प्रकृतिर्भवति। इत्थञ्च सप्तम्या लुकि सति या तस्याः प्रकृतिरीदूदन्ता सा प्रगृह्यसंज्ञा भवतीति निष्कृष्टो वाक्यार्थः। सप्तम्यर्थस्य स्थाने सप्तमी लुगिति लुकोक्तमर्थमात्रालाभात् "शिष्टो लुप्तार्थाभिधायी" इत्यर्थस्य अशिष्टानुकरणीयतया बोधनीयत्वाच्च। एवं च एवंविधार्थस्य प्रकृतसूत्रस्य भवदुक्तमुदाहरणं कथं नाम सङ्गच्छते। अयं चार्थो भाष्यादिसकलग्रन्थसम्मत एव। तदुपदेशिसकलार्थानुगुणत्वात्।

बालक्रीडा

किये गये ष्टुत्व के विषय में जो आपने असाधुत्व कहा है वह कैसे संगत होगा। अतः इस प्रकार वातप्रमी आदि शब्दों के प्रयोग के विषय में दौर्लभ्य का निरूपण हो गया।

इस पर भी यदि इनके प्रयोग की योग्यता है माने वातप्रमी आदि प्रयोग दुर्लभ नहीं है। ऐसा दुराग्रह है तब भी इस सूत्र का वह उदाहरण है ऐसा कहना असगत है। क्योंकि सूत्रकार ने उसका उपसग्रह नहीं किया है।

उसको बतलाते हैं। यः शिष्यते स लुप्यमानार्थाभिधायी जो शिष्ट रहता है वह लुप्त अर्थ को कहता है जैसे "व्यतिसेऽहन्" इसमें प्रकृति और प्रत्यय के अर्थ को कहते हैं ऐसा उद्देश्यभूतदल का अर्थ सम्पन्न होता है उसमे सप्तमी के लुक् होने पर अवशिष्ट जो उसकी प्रकृति है सरसी यवी पपी इत्यादि इसमें ईत् और ऊत् ये विशेषण हैं न कि सप्तम्यर्थ में वर्त्तमान जो ईदन्त और ऊदन्त प्रकृति है ऐसा उद्देश्य दलका अर्थ सम्पन्न होता है। वहां सप्तमी के अर्थ में वर्त्तमान इससे सप्तमी का लोप अवगत होता है। क्योंकि प्रत्यय का लोप हुए बिना प्रत्यय के अर्थ में वर्त्तमान प्रकृति नहीं होती है। इस प्रकार सप्तमी प्रत्यय के लुप्त होने पर जो उसकी प्रकृति ईदन्त एवं ऊदन्त है उसकी प्रगृह्य संज्ञा होती है ऐसा वाक्यार्थ निष्कृष्ट होता है। सप्तम्यर्थ के स्थान में सप्तमी लुक् इससे अर्थमात्रा का लाभ होने से और शिष्ट लुप्त के अर्थ का अभिधायी होता है इससे अशिष्ट

किञ्च भाष्यवृत्यादिषु प्रामाणिकग्रन्थेषु एतत्सूत्रोदाहरणाभावस्य प्रदर्शितत्वात्। वातप्रम्यादीनामनुदाहरणे अतिरमणीयः पन्थाः। नहि शास्त्रकृतां तादृशोदाहरणास्फूर्तिः शक्या संभावयितुम्।

एतेन छन्दोऽनुवृत्यभावान्नास्य छन्दोविषयत्वमिति कौस्तुभोक्तमशुद्धमेव। छन्दोऽनुवृत्यभावेऽपि सूत्रार्थस्य लौकिकोदाहरणेष्वयोगेन छन्दोमात्रविषयताया पर्यवसानात्।

सम्बुद्धौ शाकल्यस्य। यत्तु "ओम्" इत्यत्र निपातानुवृत्तेरिह सम्बुद्धिग्रहणस्य वृत्यादौ "गवित्ययमाह" इति प्रत्युदाहरणमुक्तम्। तन्न. प्रगृह्यसंज्ञासत्त्वेऽपि अपदान्तत्वेन प्रकृतिभावाप्रसक्तेः" इति मनोरमा तन्न। "इकोऽसवर्णे" इत्यत्र पदान्ता इत्यस्य सम्बन्धेऽपि "प्लुतप्रगृह्या" इत्यत्र तत्सम्बन्धस्यानावश्यकत्त्वात्। यत्तु अन्यथा यरो ञमि ञम् वेत्येवावक्ष्यदिति

बालक्रीडा

अर्थ की अनुकरणीयता का बोध करना चाहिए ऐसा लुक् ने कहा। ऐसी स्थिति में इस प्रकार के अर्थ वाले प्रकृत सूत्र का उदाहरण वह कैसे हो सकता है जिसका आपने उदाहरण के रूप में उपन्यास किया है। यह अर्थ भाष्यादि सकल ग्रन्थों के सम्मत ही है। उसका उपदेश करने वाले सकल अर्थों के अनुगुण ही है

और भी बात की है भाष्य एव वृत्ति आदि सभी प्रामाणिक ग्रन्थों में इस सूत्र के उदाहरण का अभाव ही दिखाया है। अतः वातप्रमी आदि उदाहरण नहीं है यही रमणीय पन्था है। शास्त्रकारों को इस प्रकार के उदाहरणों की स्फूर्ति नहीं होती है ऐसी सम्भावना की जा सकती है ऐसी बात नहीं है उनको उदाहरणों की स्फूर्ति होती है वे सर्ववित् हैं।

इससे छन्द की अनुवृत्ति इसमें नहीं होती है अतः यह छन्द का विषय नहीं है ऐसा कौस्तुभकार का कथन अशुद्ध ही है। क्योंकि छन्द की अनुवत्ति नही होने पर भी इस विषय का लौकिक उदाहरण नही मिलता है अतः सूत्र के अर्थ का लौकिक उदाहरण से सम्बन्ध नहीं होने से केवल छान्दस उदाहरणो में ही सम्बन्ध होना पर्यवसित होता है।

"सम्बुद्धौ शाकल्यस्य" जो तो "ओत्" इसमें निपात की अनुवृत्ति होने से इस विषय मे सम्बुद्धि ग्रहण का वृत्ति आदि में जो गो इति अयम् आह इसे प्रत्युदाहरण कहा है वह ठीक नहीं है। "क्योंकि इकोऽसवर्णे" इसमें पदान्ताः इसका सम्बन्ध होने पर भी "प्लुत प्रगृह्या" इसमें इस के सम्बन्ध की आवश्यकता नहीं है।

जो तो "अन्यथा यर को ञम् होता है ञम् परे रहते। ऐसा ही कहते। वह ठीक नहीं है। ऐसा कहने पर यथासंख्य की आपत्ति लग जायगी। यद्यपि

तन्न । तथा सति यथासंख्यापत्तेः । यद्यपि "आन्महतः" "सन्महत्" इत्यादिनिर्देशैर्लिङ्गैर्नात्र परिभाषा प्रवर्त्तते इति शक्यते परिहर्तुम् । यतो नोपन्यस्तं दोषान्तरन्तु स्यादपि ।

इत्यचां सन्धिद्वयं समाप्तिमगमत् ।

॥ अथ हल्सन्धिप्रकरणम् ॥

स्तोः श्चुना श्चुः । यत्तु "स्तोः" इति समाहार द्वन्द्वः "सौत्रं पुंस्त्वम् इत्युक्तं, तदसत् । गत्यन्तरस्य सम्भवे सौत्रपुंस्त्वस्यागतिकगतेरनाश्रयणीयत्वात् ।

ष्टुना ष्टुः । यत्तु "स्तोः श्चौ श्चुः ष्टौ ष्टुः इति सुवचनम् , न च "तस्मिन्" इति परिभाषोपस्थानेन यज्ञः, याच्ञा ईट्टे ईष्टे इत्यादिर्न

बालक्रीडा

"आन्महतः" "सन्महत्" इत्यादि निर्देश रूप हेतुओं से यहाँ यथासंख्य परिभाषाकी प्रवृत्ति का परिहार किया जा सकता है अतः वैसा उपन्यास नहीं किया यह दूसरी बात है तद्यपि और दोष हैं ही ।

इस प्रकार अण्सन्धिद्वयकी आचार्य मधुसूदन शास्त्री की कृति बालक्रीडा हिन्दीटीका समाप्ति में पहुंच गई ।

अथ अब हल्सन्धि का प्रकरण यह शुरू होता है । "स्तोः श्चुना श्चुः" । जो तो 'स्तोः" इसमें समाहार द्वन्द्व समास है । प्र. । समाहार द्वन्द्व में नपुंसक लिङ्ग होता है अतः स्तोः ऐसा पुलिङ्ग नहीं करना चाहिए । उ. । यहाँ सूत्र होने के कारण पुंस्त्व हैं । सूत्र छन्द की तरह होते हैं और छन्द में दृष्टानुविधि होती है अर्थात् स्वतन्त्रता है ।

कहते है कि यह कहना असत् है अशुद्ध है । क्योंकि सौत्रपुंस्त्व कहना अगतिकगति है । जब कोई मार्ग मिल नहीं सकता है तब अगतिक गति का आश्रयण किया जाता है । जहां गति का मिलना सम्भव हो वहां उस अवस्था में अगतिकगतिका आश्रयण नहीं करना चाहिए ।

"ष्टुना ष्टुः" । जो तो "स्तोः श्चौ श्चुः ष्टौ ष्टुः ' ऐसा एकही सूत्र बनाना स्तोः श्चुना श्चुः ऐसे ष्टुना ष्टुः ऐसे दो सूत्रों के बनाने के बजाय अच्छा होता । अच्छा तो होता किन्तु श्चौ और ष्टौ ये सप्तमी हैं । जहां सप्तमी का निर्देश करके कार्य होता है वहां तस्मिन् इस परिभाषा की उपस्थिति होती है अतः शकार एवं चकार के तथा षकार एवं टकार के अव्यवहित पूर्व सकार को शकार और षकार

सिद्ध्येत्, "शात्" "न पदान्ताट्टोः" इति लिङ्गेन तस्य इहानुपस्थानस्य अभ्युपगमात् इत्याहुः–तन्न। न पदान्ताट्टोः" इति निषेधरूपलिङ्गस्य टवर्गांशे तस्मिन् इति परिभाषोपस्थानबाधेनाप्युपपत्तौ षकारांशे बाधकल्पनाया अयोगादीष्टे इत्यादौ ष्टुत्वाभावानापत्तेः। न च लिङ्गस्य सामान्यतः प्रकृत सूत्रविषयत्वावच्छेदेन तादृशपरिभाषाप्रवृत्तिविरहबोधकत्वमिति वाच्यम्। परिभाषायाः सर्वथैव इहाप्रवृत्तौ तत्प्रापितस्य पूर्वत्वस्येव अव्यवहितत्वस्याप्यनुपस्थितौ सुटीका कटुतैलमित्यादौ ष्टुत्वप्रससङ्गात्। न चाव्यवहितस्य प्रापकं योगान्तरमस्ति।

अथ यदंशबाधं विना लिङ्गमनुपपन्नं तदंशबाध एव लिङ्गेन बोध्यते, न तु सर्वात्मना सूत्रप्रवृत्तिबाध इति परत्वांश एव बाध्यताम् न तु शकारादिप

बालक्रीडा

होगा और त वर्ग को च वर्ग तथा ट वर्ग होगा। ऐसी स्थिति में यज्ञः याच्ञा ईट्टे और ईष्टे इत्यादि प्रयोग सिद्ध नहीं होगे। क्योंकि यज् न याच न में चस्वर्गीय जकार एवं चकार के अव्यवहितपूर्व में तवर्गीय नकार नहीं है अपितु उसके उत्तर में है ईड् ते एवं ईश् ते में भी इसी तरह टवर्गीय ड के पूर्व में त नही है अपितु उत्तर में है तथा शकार से पूर्व में त नहीं है अपितु उत्तर में हैं तब कैसे उनमें श्चुत्व होगा और ष्टुत्व हो सकेगा। इस पर कहते हैं कि ऐसा मत कहिए क्यों कि "शात्" एवं "न पदान्ताट्टोः इस लिङ्ग के बदौलत उस परिभाषा के उपस्थान का अभ्युपगम यहां नहीं किया गया है। ऐसा कहा वह ठीक नहीं। क्योंकि "न पदान्ताट्टोः" इस निषेधरूप लिङ्ग की टवर्गांश में "तस्मिन्" इस परिभाषा के उपस्थान के बाधित हो जाने से भी उपपत्ति हो जाती है अतः षकारांश में बाध की कल्पना के योग के नही होने से ईष्टे इत्यादि में ष्टुत्वाभाव की आपत्ति नहीं लगेगी।

यह नहीं कहना चाहिए कि लिङ्ग सामान्यतः अवच्छेदकावच्छेदेन प्रकृत सूत्र के यावद् विषयों में उस परिभाषा की प्रवृत्ति के अभाव का बोधक होगा। क्यों कि यदि परिभाषा की सर्वथा ही यहां प्रवृत्ति नहीं होगी तब उस परिभाषा के द्वारा प्राप्त कराये गये पूर्वत्व की जैसे उपस्थिति नहीं होती है उसी तरह अव्यवहितत्व की भी उपस्थिति नहीं होगी ऐसी स्थिति में सुटीका कटु तैलम् इत्यादि में टी के पूर्व सु को षत्व और टु के उत्तर तै को टुत्व होने लगेगा। इसके सिवाय अव्यवहितत्व का प्रापक कोई अन्य योग भी नहीं है

अगर कहें कि जिस अंश के बाध किये विना लिङ्ग अनुपपन्न होता है उस अंश का ही बाध लिङ्ग के द्वारा बतलाया जाता है न कि सर्व तरह से सूत्र की प्रवृत्ति

रत्वांश इति चेन्न। षकारांशे पूर्वत्वांशाबाधेन ईष्टे इत्यादौ ष्टुत्वाप्रसङ्गात्।

शि तुक्। यत्तु इदं प्रयोजनं बहिरङ्गपरिभाषया गतार्थत्वात् प्रत्युक्तमिति गुरुग्रन्थमनूद्य तत् पाक्षिकं, त्रिपादीस्थेऽन्तरङ्गे परिभाषेयं न प्रवर्त्तते इति सुध्युपास्य इत्युदाहरणे स्वोक्तत्या सह विरुद्धञ्च इत्याहुः, तद् गुरूणामाशयस्यानव बोधात्।

तथाहि—कार्यकालतायां बहिरङ्गपरिभाषया धुटोऽसिद्धत्वेन णत्वनिषेधस्य निष्प्रत्यूहतया यथोद्देशतायां णत्वनिषेधो धुटः परादित्वे प्रयोजनमिति प्राचीनैरुक्ते प्रयोजने पाक्षिकतारूपस्य दोषस्य गुरुभिरभिहितस्यापाक्षिकत्वात्तत् पाक्षिकमित्यभिसन्धानमसन्देहः। सुध्युपास्य इत्यत्र त्रिपादीस्थे अन्तरङ्गपरिभाषेयं न प्रवर्त्तते इति तेषामुक्तिस्तु यथोद्देशपक्षावलम्बिनी इह तु आग्रतार्थोक्तिः पुनः कार्यकालपक्षाश्रयेति विरोधोद्भावनमपि असङ्गतमेव। अहो अयं महानस्य द्रोहोद्रेको यदुदासीनानां प्राचां ग्रन्था आशयविशेषकल्पनेन समर्थ्यन्ते। न च समर्थ्यन्ते गुरूणामिति।

बालक्रीडा

में बाधको बतलायेगा अतः परत्वांश में ही बाधको बतलायेगा। किन्तु शकारादि परत्वांश है नहीं। ऐसी बात नहीं है। ऐसा होने पर षकारांश में पूर्वत्वांश के बाध नही होने से ईष्टे इत्यादि में ष्टुत्व की प्रसक्ति नहीं होगी।

"शि तुक्" जो तो इस प्रयोजन का बहिरङ्ग परिभाषा से गतार्थ होने से प्रत्याख्यान किया है ऐसे गुरु के ग्रन्थका अनुवाद करके कहा कि वह पाक्षिक है और सपादसप्ताध्यायी की अपेक्षा त्रिपादीस्थ अन्तरङ्ग होता है अतः इस प्रसङ्ग में यह परिभाषा प्रवृत्त नही होती है ऐसा भी सुध्युपास्य इस उदाहरण में कही हुई अपनी उक्ति के विरुद्ध है यह जो तुमने कहा है वह गुरु के आशय के नहीं समझने से कहा है।

तथाहि सुनो। कार्यकालपक्ष में बहिरङ्ग परिभाषा के द्वारा धुट्के असिद्ध हो जाने से णत्व के निषेध में कोई प्रत्यूह नहीं है। अतः यथोद्देश पक्ष में णत्वका निषेध धुट् में परादिवद्भाव को करना ही प्रयोजन है इस तरह प्राचीनों के द्वारा कहे गये प्रयोजन में पाक्षिकता रूप दोष का आधान गुरु जी ने किया है अतः वह अपाक्षिक है उसको पाक्षिक कहना सन्देह रहित है। सुध्युपास्यः यहाँ त्रिपादीस्थ में यह अन्तरङ्ग परिभाषा प्रवृत्त नहीं होती है ऐसी तो उनकी उक्ति यथोद्देश पक्षका अवलम्बन करनेवाली है और यहाँ जो आगतार्थतोक्ति है वह कार्यकालपक्ष के आश्रय से की गई है अतः विरोध का उद्भावन भी असङ्गत ही है। अहो आश्चर्य है कि यह इसका महान् द्रोह का उद्रेक है जो यह उदासीन प्राचीनों के ग्रन्थों का आशय विशेष की कल्पना करके समर्थन करता है गुरुओं का समर्थन नहीं करता है।

"ङमो ह्रस्वादचि" । यत्तु "ङम् प्रत्याहारः संज्ञायां च कृतं टित्वं सामर्थ्यात् संज्ञिभिः सम्बध्यते" इत्याहुस्तदसारम् । संज्ञायां टित्वस्याप्रसक्तेः । नह्यत्र ङम्शब्देन संज्ञायां ग्रहणस्य प्रसक्तिरस्ति । "अशब्दसंज्ञा" इति निषेधात् ङमुटि नहि समासोऽयं ङम्पर उड् यस्मिन् सोऽयं समुदायो ङमुट् उट् णुट् नुटश्च समासार्थः ।

यद्वा ङमः पर उट् ङमुट् स च ङुडादित्रयरूपशब्दार्थत्वात् प्रकृते विधीयते । न तु ङमुट्शब्दः । अर्थबोधने ङम्शब्दस्य निवृत्तेः । अन्यथा "पूर्वौ तु ताभ्यामैच्" इति अत्रैकादिचान्त्य समुदायस्य भाव्यत्वापत्तेः ।

इत्थं च ङुडादिसमुदायस्य विधेयस्यैव टित्वं, न ङम्शब्दस्येति किमुच्यते संज्ञायां कृतं टित्वमिति किम्बोधतते सामर्थ्यादिति ।

किञ्च सज्ञात्र ङम्शब्दः "आदिरन्त्येन" इत्यनेन तस्यैव संज्ञात्वेन बोधनात् । न तु ङमुट् शब्दः; तस्य संज्ञात्वेनाप्रसिद्धेः । टित्वं पुनरित्संज्ञक

बालक्रीडा

ङमो ह्रस्वादचि । ङम् प्रत्याहार है । संज्ञा में किया गया टित्वका सम्बन्ध संज्ञियों से करते हैं । ऐसा जो कहा है वह असार है तत्त्व रहित है । संज्ञा में टित्व की प्रसक्ति ही नहीं है । ङम् शब्द से संज्ञा में टित्व के ग्रहण की प्रसक्ति भी नहीं है । क्यों कि अशब्द संज्ञा इससे निषेध भी कर दिया है । ङमुट् में भी नहीं है । क्यों कि यह समास है । ङम से परे उट् जिसमें है वह समुदाय ङमुट् है अतः ङुट् णुट् और नुट् यह समास से प्राप्त अर्थ है ।

अथवा ङम से परे जो उट् वह ङमुट् है इसका प्रकृत में विधान है क्यों कि वह ङमुट ङुट् नुट् एवं नट इन तीन शब्दों का अर्थ है । न कि ङमुट् यह शब्द है । अर्थ बोधन करने पर ङम् शब्द की निवृत्ति हो जाती है । अन्यथा तो उनसे पूर्व च् में से है । यहां ऐका दिचान्त्य समुदाय के होने की आपत्ति लग जायगी । इस प्रकार विधेय ङुडादिसमुदाय को ही टित्व कहा है न कि ङम् शब्द को टित्व कहा है तब क्या कहते हो कि संज्ञामें टित्व किया है और सामर्थ्य से हो गया है ऐसा क्या समझाते हो ।

और भी बात है कि यहां पर ङम्संज्ञाशब्द है । "आदिरन्त्येन" इस शास्त्रने उसी को संज्ञाशब्द समझाया है । न कि ङमुट् शब्द संज्ञा है । उसकी संज्ञा के रूप से अप्रसिद्धि हैं । इत्संज्ञक टकार जिसका अवयव है ऐसा टित्व ङमुट् इस समुदाय का ही हो सकता है जब कि वह विधेय हो । ङम्शब्द रूप संज्ञा का

टकारावयवकत्वं ङमुडितिसमुदायस्य सति विधेयत्वे सम्भवति न ङम्शब्द-रूपाया: संज्ञायाः, नापि ङणनानां संज्ञिनामतो ग्रन्थोऽयं कौस्तुभमनोरमयोः निरर्थकतालक्षणसापेक्षव्याख्य एव।

यदप्युच्यते "सुगण्णीश इति। ण्यल्लोपौ न स्थानिवत्" पूर्वत्रासिद्धे तमिषेधात्" इति। तदप्यहृद्यम्। ङमुटः परादित्वे न स्थानिवद्भाव इति पक्षाश्रयेण शङ्कोत्थान इति वाच्यम्। तस्य पक्षस्य भवतैव "निष्ठा सेट्" इत्यत्र सेट्ग्रहणाल्लिङ्गात् क्वाचित्कतया स्वीकारेण बहुलग्रहणादिवदनिष्टार्थेऽ-प्रवृतेः। अन्यथा क्वाचित्कत्वस्वीकारो निष्फल एव स्यात्।

हलङ्यादिलोपसंयोगादिलोपार्थं भवताप्यत्र क्वाचित्कताया एव शरणी-करणीयत्वाच्च। तस्य 'पूर्वस्मात्" इत्ययादेशस्याल्लोपस्थानिद्भावेनाप्रवृत्तौ तस्या एवाश्रयणीयत्वात्।

यच्च बहिरङ्गपरिभाषया गतार्थत्वादुभयमाप्यसङ्गतम्" इति गुरुग्रन्थे पाक्षिकं दूषणमुपन्यस्तं तत्तेषामाशयस्यात्नवबोधादित्युक्तमेव।

इति हलसन्धिः।

बालक्रीडा

टित्व नहीं हो सकता है। और न, ङ ण. न इन संधियों का टित्व हो सकता है अत: यह कौस्तुभ और मनोरमा ग्रन्थ निरर्थकता लक्षणा सापेक्ष व्याख्या वाला है।

और भी जो कहते हैं सुगण्णीश इति। णि और अल्लोप स्थानी के तुल्य नहीं होते हैं। पूर्वत्रासिद्ध होने पर उसका निषेध हो गया है। वह अहृद्य है। ङमुट् में परादिवद्भाव मानने पर स्थानी के तुल्य नहीं होता है इस पक्ष का आश्रयण करके शंकाके उत्थान में ऐसा कहना चाहिए। किन्तु उस पक्ष को आपने ही "निष्ठा सेट्" इस सेट् ग्रहण लिङ्ग से क्वाचित्वक माना है। अत: बहुलग्रहण की तरह अनिष्टार्थ मे प्रवृत्ति नहीं होती है। अन्यथा आपका क्वाचित्क मानना निष्फल हो जायगा। हलङ्या दि लोप और संयोगादिलोपके लिए आपको भी यहाँ क्वाचित्कता का ही शरण करना चाहिए। क्यों कि उस पूर्वस्मात् आदेश की अल्लोपके स्थनिद्भाव से प्रवृत्ति नहीं होने पर क्वाचित्कता का आश्रयण करना पड़ेगा।

और भी जो बहिरङ्गपरिभाषा के द्वारा गतार्थ हो जाने से वे दोनो ही असत् हैं ऐसा जो गुरु के ग्रन्थ में पाक्षिक होने के दोष का उपन्यास किया है वह गुरुग्रन्थ के आशय के नहीं समझने से है ऐसा सब पहले कह दिया गया है।

इस प्रकार मनोरमाकुचमर्दन के हल्सन्धि प्रकरण की आचार्य मधुसूदनशास्त्री की कृति हिन्दी टीका बालक्रीडा समाप्त हुई।

अथ विसर्गसन्धिः

"शर्परे"। यत्तु यदि तु "शर्परे न" इत्येवोच्यते, तर्हि प्रकृते सत्वे निषिद्धेऽपि "कुप्वोः ᳲकः ᳲपौ" स्याताम्। वासः क्षौमम् अद्भिः प्सातमिति। विसर्जनीयवचनात्तु विकारमात्रं बाध्यते इत्याहुः॥

तत्र विचार्यते "कुप्वोः" इति योगे चकारेण "शर्पर" इत्यत्र प्रकृतो विसर्जनीयः समुच्चीयते। पक्षप्रसक्तबाधद्वारा विसर्जनीयश्रुते "शर्परे न" इति कृते तु विसर्जनीयस्याप्रस्तुतत्वात्। सत्त्वनिवृत्तेश्च आदेश-विधानपक्षेऽपि अपवादसिद्धत्वेन अनुवाद्यतया आदेशाभ्यां सह समुच्चेयताया अनुपपत्तेः। निषेधविधानसामर्थ्यात् तत्र आदेशाभावपक्षे स्यादवगतिरिति चेत्तर्हि सामर्थ्यादेव पक्षे सत्त्वमपि भवतीत्यर्थोऽप्यवगन्तुं शक्यते इति क्लिष्ट एवाऽयं पन्थाः। तत्रैव विसर्जनीयग्रहणेन विशेषाभावात् पूर्वपक्षोत्थापनमेव न सङ्गच्छते।

बालक्रीडा

अथ अब विसर्ग सन्धिका आरम्भ करते हैं।

शर्परे। जो ऐसा कहते हैं कि अगर "शर्परे न" इतना ही कहते है तब प्रकृत में सत्व के निषिद्ध होने पर भी कुप्वो ᳲक ᳲपौ" इससे वासः क्षौमभद्भिः प्सातम् (क्षौम माने रेशमी वासः वस्त्र को जल से धो दिया) यहां पर सः क्षौमे क और "भिः प्सा" में प होंगे। यदि विसर्जनीय को कहेंगे तो केवल विकार का बाध होगा।

इसमें विचार करते हैं। कुप्वोः इसमें "कपौ च" इस चकार से शर्पर इसमें प्रकृत विसर्जनोयका समुच्चय कर लेते हैं। इस पक्ष में प्राप्त होने पर निषेध होता है इसके बाध हो जाने पर विसर्गनीयका श्रवण होवेगा। और यदि शर्परे न ऐसा कर देते है तो विसर्जनीय का श्रवण नहीं होगा क्यों कि वह अप्रस्तुत है। सत्व की निवृत्ति के सम्बन्ध में आदेश विधान पक्ष में भी अपवाद के सिद्ध होने के कारण आदेश और अपवाद दोनों की साथ-साथ समुच्चेयता अनुपपन्न हो जायगी। अगर कहें कि निषेध विधि के सामर्थ्य से वहां सत्त्वका आदेश नहीं होगा इस पक्ष की अवगति तो होगी ही तब भी उक्त सामर्थ्य से ही उस पक्ष में सत्व भी होता है ऐसे अर्थ की भी अवगति हो सकती है। इस तरह यह मार्ग क्लिष्ट ही है। वहीं पर विसर्जनीय के ग्रहण कर देनेसे विलक्षणता के नहीं होने से पूर्वपक्षका उत्थापन ही संगत नही होगा।

इत्थं पुन: पूर्वपक्षोत्थापनं वक्तव्यं "कुप्वो:" इति योगो विभज्यते। तत्र "न शर्परे" इति "विसर्जनीयस्य सः इति चानुवर्त्तते । तथा च कुप्वोः परयोर्विसर्जनीयस्य सो नेति प्रथमयोगार्थः, ततश्च विसर्जनीयस्य कुप्वोः परयोः ≍क ≍पौ भवत इति द्वितीययोगस्य । इह च प्रथमयोगाहितनिषेधस्य नान्तरीयकत्वाभावबोधकचकारस्य च सामर्थ्यात् कुप्वोः परयोर्विसर्जनीय श्रुत्या सह विकल्प: पर्यवस्यति । नित्यत्वे हि तयोरपवादत्वादेशे उत्सर्गस्य निवृत्तौ सिद्धायां षत्वनिषेधस्य नैरर्थक्यापत्तेः । समाधानं तु "तर्हि" इत्यादि मनोरमास्थमेव । पुनरिहाप्यवधेयं विसर्जनीयस्य शोऽशर्परे वा शरि कुप्वोः ≍क ≍पौ विसर्जनीय इति न्यासो विधेयः। "कुप्वो:" इत्यत्र वाशर्पर" इत्यनुवर्त्तनीयम् । इत्थञ्च मात्रालाघवं वाक्यलाघवं प्रकारसिद्धिश्च भवति ।

न च "वाशरि" इत्यत्रापि अशर्पर इत्यनुवृत्तिः स्यादिति वाच्यम् । सत्यामनुवृतौ दोषस्थलस्य दौर्लभ्यात् । अस्तु वा मण्डूकप्लुतया "कुप्वो:" इत्यत्रैव तदनुवृत्तिः

बालक्रीडा

अगर पूर्वपक्ष का उत्थापन करना ही है तो इस प्रकार उसका उत्थापन करिये । "कुप्वो:" इसका योग विभाग करते हैं। वहां न शर्परे रहते नहीं और विसर्जनीय को स होता है इसका अनुवर्त्तन कर लेंगे। ऐसा करने पर कवर्ग एवं पवर्ग के परे रहते विसर्ग को स नहीं होता है ऐसा प्रथम योग का अर्थ होगा। उसके बाद क वर्ग और प वर्ग के परे रहते विसर्जनीयको ≍क और ≍प होते हैं ऐसा द्वितीय योग का अर्थ होगा। यहाँ पर प्रथम योग के द्वारा विसर्जनीय को किये सकार के निषेध का नान्तरीयकता के अवश्यंभाविता के अभाव के बोधक चकार के सामर्थ्य से क वर्ग एवं पवर्ग पर रहते विसर्ग की श्रुति के साथ विकल्प पर्यवसित होगा। नित्य होने पर तो दोनों का अपवाद हो जयागा उस हालत में उत्सर्ग की निवृत्ति सिद्ध हो जायगी तब षत्व का निषेध निरर्थक हो जायगा इस हालत के होने पर जिज्ञासा करते हैं कि तब इसका क्या समाधान आपके पक्ष में है इस पर उत्तर देते हैं कि समाधान तो 'तर्हि' इत्यादि मनोरमा में है ही। यहां भी यह समझिये। विसर्जनयस्य, शोऽशर्परे, वा शरि, कुप्वोः ≍क ≍पौ बिसर्जनीय:, ऐसा न्यास करिये। और कुप्वोः इसमें 'वा शर्परे' इसका अनुवर्त्तन करना चाहिए। ऐसा करने से मात्रा-का लाघव, वाक्यका लाघव और सकार की सिद्धि होती है।

ऐसा नहीं कहियेगा कि इस तरह करने पर "वा शरि" इसमें "अशर्परे" इसकी अनुवृत्ति हो जायगी। क्यों कि अनुवृत्ति होने पर दोष का स्थल ही नहीं मिलेगा। अथवा मिले तब भी वह अनुवृत्ति मण्डूकप्लुति से कुप्वोः इसमें ही होगी।

अथ वासः क्षौमम् अद्भिः प्सातम् "इत्यादौ रुत्वविसर्गयोरसिद्धत्वात् सस्य 'स्कोः" इति लोपो दुर्वारः न। च "शर्पर" इत्यनेन निरवकाशत्वाद्बाधबुद्धेरप्राकृतिकविसर्जनीयेस्यत्य सावकाशत्वात्। न चाष्टमिकवार्तिकरीत्या सङित्युक्तौ दोषनिरासः। तत् प्रत्याख्यानन्तु भाष्यकृतः सरणौ दोषस्य तथाप्यनुद्धार इति चेन्न; समाधेरदूरत्वात्।

इति विसर्गसन्धिः।

श्रीमत्पदवाक्यप्रमाणपारावारीणपण्डितराजजगन्नाथकृतौ मनोरमाकुचमर्दने पञ्चसन्धिप्रकरणं समाप्तिमगमत्।

बालक्रीडा

अथ और भी है कि वासः क्षौमयद्भिः 'प्सातम्' इत्यादि में सत्व एवं विसर्ग ही असिद्ध हैं। अतः स्कोः इससे होनेवाले सके लोपका वारण करना कठिन हो जायगा। यह नहीं हैं कि शर्पर इसके कारण बाध बुद्धि निरवकाश है। क्यों कि अप्राकृतिक विसर्जनीय इसका तो अवकाश है ही। यह भी नहीं है कि अष्टमाध्यायोक्त वार्तिक की रीति से सङ् ऐसा कहने पर दोष का निरास हो जायगा भाष्यकार की सरणी में इसका प्रत्याख्यान है तब भी दोष का उद्धार नहीं हुआ। तब कहते हैं समाधात तो पास में ही है।

इति विसर्गसन्धि समाप्त हुई।

पद व्याकरणशास्त्र वाक्य न्यायशास्त्र एवं प्रमाणमीमांसाशास्त्र समुद्र के पारङ्गत पण्डितराज जगन्नाथ की कृति मनोरमाकुचमर्दन में पञ्चसन्धिप्रकरण समाप्त हो गया।

इस प्रकार मनोरमाकुचमर्दन के विसर्ग सन्धि की आचार्यमधुसूदनशास्त्री की कृति हिन्दीटीका बालक्रीडा समाप्त हुई।

यहां यह हमने अक्षरो का अर्थ किया है विश्लेषण पुरः सर समाधान नही किया है।

स्पष्टीकरण करने में पुस्तक का कायाकल्प करना पड़ता उसकी आवश्यकता होने पर उसे भी करेंगे किन्तु जो हुआ वह हुआ सब ठीक है।

हरिः ओम् तत्सत् शुभम्भवतु।

छन्द-काव्य-अलङ्कार-चम्पू-ग्रन्थाः

अभिधावृत्तिमातृका (काव्य) । आचार्य मुकुलभट्टकृता।
'सुबोधिनी' संस्कृत **'समङ्गनी'** हिन्दी व्याख्यया च विभूषिता।
सम्पादक एवं व्याख्याकारः डॉ0 सुज्ञान कुमार माहान्ति H.B. 250.00, P.B. 125.00

अमरुशतकम् । 'रसिकसंजीवनी' संस्कृत तथा 'प्रकाश' हिन्दी टीका 50.00

आर्यासप्तशती । श्रीविश्वेश्वरपण्डितविरचिता ।
ग्रन्थकर्तृकृत-व्याख्यासंवलिता । सम्पादक— पण्डित विष्णुप्रसाद भण्डारी । सम्पूर्ण 275.00

औचित्यविचारचर्चा । क्षेमेन्द्रविरचिता । सान्वय **'रमा'** संस्कृत-हिन्दी व्याख्या,
विशेष टिप्पणी (नोट्स) विभूषित । व्याख्याकार— डॉ. रमाशङ्कर त्रिपाठी 70.00

कादम्बरी । सविमर्श **'भावबोधिनी'** संस्कृत-हिन्दी व्याख्योपेता । व्या.— डॉ. जयशङ्करलाल त्रिपाठी ।
आदितः शुकनासोपदेशांतो भागः 250.00
कथामुख 90.00, पूर्वार्द्ध 725.00, उत्तरार्द्ध 400.00 एवं सम्पूर्ण 1125.00

कादम्बरी-कथामुखम् । **'चन्द्रिका'** संस्कृत-हिन्दी व्याख्योपेतम् ।
व्याख्या.— पण्डित सरयूप्रसाद पाण्डेय 65.00

कादम्बरी-महाश्वेतावृत्तांत । बाणभट्टप्रणीत । 'शशिप्रभा' संस्कृत-हिन्दी व्याख्या सहित ।
व्याख्याकार— डॉ. जमुना पाठक 150.00

काव्यदीपिका । कान्तिचन्द्रभट्टाचार्यसंकलिता । 'शकुन्तला' सं. हि. व्याख्याद्वयोपेता ।
व्याख्याकार— डा. विन्ध्येश्वरी प्रसाद मिश्र 60.00

काव्यप्रकाशः । मम्मटभट्टविरचितः । सविमर्श **'रहस्यबोधिनी'** हिन्दी व्याख्या सहित ।
व्याख्याकार— डॉ. गजानन शास्त्री मुसलगाँवकर। सम्पादक— आचार्य पण्डित
सत्यनारायण शास्त्री खण्डूड़ी ।
1-6 उल्लास 200.00, 7-10 उल्लास 300.00, सम्पूर्ण 500.00

काव्यानुशासनम् । आचार्यहेमचन्द्रविरचितं । स्वोपज्ञालङ्कार चूड़ामणि संज्ञकव्याख्याविवेकसंज्ञक-
विवरणेनोपबृंहितं **'जयाख्य'** हिन्दी टीका सहितम् । टीकाकार— डॉ. रामानन्द शर्मा 350.00

काव्यालङ्कार । आद्याचार्य भामहविरचितः। **'आनन्दाऽऽख्य'** हिन्दी भाष्य संवलितः ।
भाष्यकारः साहित्यवारिधि डॉ. रामानन्द शर्मा 285.00

किरातार्जुनीयम् । महाकविभारविविरचितं । श्रीमल्लिनाथसूरीकृतया 'घण्टापथ'-व्याख्या अथ च
'सरला' हिन्दीव्याख्योपेतम् । सम्पादक एवं व्याख्याकार— डॉ. सुधाकर मालवीय ।
सम्पूर्ण H.B. 375.00, P.B. 225.00

कुट्टनीमतम् वा शम्भलीमतम् । दामोदरगुप्त विरचितम् । 'रसदीपिका' व्याख्या सहितम् ।
व्याख्याकार— तनसुखराम शर्मा त्रिपाठी । अंग्रेजी भूमिका सहित 300.00

कुमारसम्भवमहाकाव्यम् । कालिदास । मल्लिनाथकृत 'सञ्जीवनी' व्याख्या एवं 'सरला'
हिन्दी टीका सहित । व्याख्या.—डॉ. सुधाकर मालवीय H.B. 375.00, P.B. 250.00

कुवलयानन्दः। श्रीमदप्पयदीक्षितविरचितः । श्रीमद्गङ्गाधरमनीषिविरचित **'रसिकरञ्जनी'**
संस्कृत व्याख्या तथा पं. रा. हालास्यनाथविरचित टिप्पणी विभूषित
एवं आचार्य जयशंकरलाल त्रिपाठी विरचित **'भावबोधिनी'** हिन्दी व्याख्या सहित। सम्पूर्ण।
P.B. 350.00, P.B. 450.00, 1-40 प्रकरण तक 175.00

दशकुमारचरितम्। **'चन्द्रकला'** संस्कृत-हिन्दी व्याख्या सहित।
व्याख्याकार— आचार्य पण्डित शेषराज शर्मा रेग्मी । (सम्पूर्ण शीघ्र) पूर्वपीठिका 55.00